



आचार्य श्री कनकनंदी के आशीर्वाद से आचार्य श्री महाप्रज्ञ चातुर्मास व्यवस्था समिति एवं धर्म दर्शन सेवा संस्थान (आ. श्री कनकनंदी द्वाया आशीर्वाद प्राप्त) के प्रायोजकत्व तथा विज्ञान समिति (उदयपुर) एवं जैन विश्व भारती विश्व विद्यालय (लाडनूँ) के आयोजकत्व में उद्घोषण करते हुए<sup>२२५</sup>  
डॉ. कच्छाया जी

## आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से भी परे है प्राचीन जैन ग्रन्थों का वर्णन

(11 अंग, 14 पूर्वों में वर्णित धर्म-विज्ञान-गणित  
का संक्षिप्त दिग्दर्शन)

- आचार्य कनकनंदी

मुझे कषाय-पाहुड (चूर्णी सूत्र सहित) की प्रस्तावना लिखते हुये आत्मिक प्रसन्नता के साथ-साथ गौरव अनुभव हो रहा है कि सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी तीर्थकर केवली के द्वारा ज्ञात एवं प्रतिपादित, गणधर स्वामी द्वारा ग्रन्थित, आचार्य गुणधर स्वामी द्वारा सूत्रबद्ध एवं आचार्य यतिवृषभ गुरुदेव के चूर्णिसूत्र से समन्वित यह महान्, पवित्र, विश्वकल्याणकारी, सूक्ष्म तथा व्यापक ज्ञान-विज्ञान का ग्रन्थ पुनः प्रकाशित हो रहा है और इसकी प्रस्तावना लिखने

(1)

का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है।

सामान्यतः वर्तमान के लोग मानते हैं कि वर्तमान काल में ही ज्ञान-विज्ञान का शोध-बोध हुआ, प्रचार-प्रसार हुआ एवं तत्सम्बन्धी साहित्यों का लेखन एवं प्रकाशन हुआ परन्तु ऐसा मानना कूपमण्डूकता है, संकीर्णता है, अनभिज्ञता है। विश्व साहित्य के अध्ययन से तथा जैन, बौद्ध, हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से सुस्पष्ट परिज्ञान हो जाता है कि प्राचीन काल में भी विभिन्न ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का पूर्ण विकास हुआ था। ऐसी मान्यता है कि उपलब्ध लिखित साहित्य में ऋग्वेद अतिप्राचीन है। जिसकी रचना काल लगभग चार-पांच हजार वर्ष प्राचीन है। इसी प्रकार बौद्धों के त्रिपिटक, जैनों के अंगश्रुत, आगमशास्त्र भी 2200-2300 वर्ष प्राचीन हैं। इस प्रकरण में गोम्मटसार-जीवकाण्ड, ध्वल, जयध्वल आदि ग्रन्थ जिनकी रचना एक हजार से बारह सौ वर्ष पहले

(2)

हुई थी, उसके उदाहरण से सिद्ध करना चाह रहा हूँ कि अति प्राचीन काल में भी विभिन्न ज्ञान-विज्ञान की शाखाएँ थीं। निम्नोक्त प्रकरण श्वेताम्बर जैनों के आगम ग्रन्थ, दिग्म्बर जैनों के षट्खण्डागम, कषायपाहुड़, तिलोय पण्णति, मोक्षशास्त्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में से है, जिसकी रचना 1500 वर्ष से लेकर 2300 वर्ष पहले हुई थी। इन लिखित प्रमाणों से सिद्ध होता है कि प्राचीनकाल कोई असभ्य, अवैज्ञानिक युग नहीं था परन्तु एक सांस्कृतिक वैज्ञानिक युग था। कुछ प्रकरण से यहाँ यह सिद्ध होता है कि भले वर्तमान का रासायनिक विज्ञान, भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान, मनोविज्ञान, अन्तरिक्ष विज्ञान या दूर संचार विज्ञान क्यों न हो, प्राचीन विज्ञान से बहुत ही पीछे है।

विश्व में जो अनंत ज्ञेय पदार्थ, विषय वस्तु एवं घटनाएँ हैं, उसे जानने के लिए अनंत ज्ञान की आवश्यकता होती

(3)

है। जो अनन्त ज्ञानी होगा, वही समस्त विषयों को पूर्ण रूप से जान सकता है। ऐसे ज्ञान के द्वारा प्रतिपादित विषय ही पूर्ण सत्य होता है। अनन्तज्ञानी अनन्त विषयों को जान लेते हैं परन्तु उसका प्रतिपादन, ग्रहण, लिपिबद्ध पूर्णरूप से नहीं हो पाता है। कहा भी है -

पण्णवणिज्ञा भावा अणंतभागे दु अणभिलप्पाणं ।  
पण्णवणिज्ञाणं पुण अणंतभागे सुदणिबद्धो ॥ 334 ॥

गो. जी.

**गाथार्थ** - अनभिलाप्य पदार्थों (जो पदार्थ शब्दों द्वारा नहीं कहे जा सकते हैं) के अनन्तवें भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय (प्रतिपादन करने योग्य) पदार्थ हैं। प्रज्ञापनीय पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रमाण श्रुत-निबद्ध पदार्थ हैं।

अनन्त ज्ञान के धारी केवली द्वारा प्रतिपादित विषयों का अनन्तवाँ भाग चार ज्ञान के धारी गणधर (गणपति-गणेश)

(4)

शास्त्र रूप में लिपिबद्ध करते हैं। भले समस्त पदार्थों का अनन्तवाँ भाग शास्त्र बद्ध होता है किन्तु भाव श्रुत का विषय समस्त पदार्थ की कुछ अवस्थाएँ /पर्यायें हैं। गणधर द्वारा रचित ग्रन्थ कितने विशाल थे, उनका एक अनुमान निम्न वर्णन से हो जाता है।

अक्षर समास ज्ञान तथा पदज्ञान का स्वरूप -

एयकखरादु उवरिं एगेगेणकखरे ण वडढंतो ॥  
संखेजे खलु उड्ढे पदणामं होदि सुदणाणं ॥ 335 ॥

**गाथार्थ** - एक अक्षर ज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब संख्यात अक्षरों की वृद्धि हो जाय, तब पद नामक श्रुत ज्ञान होता है।

**विशेषार्थ** - अक्षर श्रुतज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की ही वृद्धि होती है, अन्यान्य वृद्धियाँ नहीं होती हैं। इस प्रकार

(5)

आचार्यों से परम्परागत उपदेश पाया जाता है। कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि अक्षर श्रुतज्ञान भी छः प्रकार की वृद्धि से बढ़ता है। किन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता है, क्योंकि समस्त श्रुतज्ञान के संख्यातर्वे भागरूप अक्षरज्ञान से ऊपर छः प्रकार की वृद्धियों का होना सम्भव नहीं है।

अक्षरश्रुत ज्ञान से ऊपर और पदश्रुत ज्ञान के संख्यात विकल्पों की 'अक्षर समास' यह संज्ञा है। अंतिम 'अक्षर समास' श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर ज्ञान के बढ़ने पर पद नामक श्रुतज्ञान है।

अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद इस प्रकार पद तीन प्रकार का है। उनमें से जितने अक्षरों के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है, वह अर्थपद है। वह अर्थपद अनवस्थित है, क्योंकि अनियत अक्षरों के द्वारा अर्थ का ज्ञान हो जाता है और यह बात प्रसिद्ध भी नहीं है क्योंकि 'अ' का अर्थ विष्णु है, 'इ'

(6)

का अर्थ काम है और 'क' का अर्थ ब्रह्मा है। इस प्रकार इत्यादि स्थलों पर एक-एक अक्षरों से ही अर्थ की उपलब्धि होती है। आठ अक्षर से निष्पत्र हुआ प्रमाण पद है। यह अवस्थित है, क्योंकि इसकी आठ संख्या नियत है।

**अर्थपद** - जैसे 'सफेद गौ को रस्सी से बाँधों' या 'अग्नि लाओ' या 'छात्र को विद्या पढ़ाओ' अथवा 'बालक को दूध पिलाओ', इत्यादि।

**प्रमाणपद** - श्लोक के चार पाद होते हैं। प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं। प्रत्येक पाद की प्रमाणपद संज्ञा है क्योंकि प्रमाणपद की आठ संख्या नियत है।

यहाँ पर न तो अर्थपद से प्रयोजन है और न प्रमाणपद से प्रयोजन है किन्तु मध्यपद से प्रयोजन है।

अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यपद, इस तरह पद तीन प्रकार का कहा गया है। इनमें मध्यम पद के द्वारा पूर्व अंगों

(7)

के पदविभाग होते हैं। इनमें मध्यम पद के द्वारा पूर्व अंगों के पदविभाग होते हैं।

मध्यम पद के अक्षरों का प्रमाण -

सोलससयचउतीसा कोडी तियसीदिलकखयं चेव ।  
सत्तसहस्साट्ठसया अट्ठासीदी य पदवण्णा ॥1336 ॥

गाथार्थ - सोलह सौ चौंतीस कोटि तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी (16348307888) एक मध्यमपद में अक्षर होते हैं।

विशेषार्थ - सौलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख, अठहत्तर सौ अठासी (16348307888) अक्षरों को लेकर द्रव्य श्रुत का एक पद होता है। इन अक्षरों से उत्पन्न हुआ भावश्रुत भी उपचार से 'पद' कहा जाता है। सौलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी

(8)

इतने वर्ण (अक्षर) एक मध्यम पद होते हैं। इतने अक्षरों को ग्रहणकर एक मध्यम पद होता है। यह मध्यम पद भी संयोगी अक्षरों की संख्या की अपेक्षा अवस्थित है क्योंकि उसमें उक्त प्रमाण से अक्षरों की अपेक्षा वृद्धि और हानि नहीं होती। इन पदों में संयोगी अक्षर ही समान हैं, संयोगी अक्षरों के अवयव अक्षर नहीं, क्योंकि उनकी संख्या का कोई नियम नहीं है। इस मध्यम पद के द्वारा पूर्व और अंगों के पदों की संख्या का प्ररूपण किया जाता है।

चौदह पूर्वों में समस्त वस्तुओं और प्राभृतों की संख्यापण्ण उदिसया वत्थू पाहुडया तियसहस्सणवयसया ।  
एदेसु चोद्दसेसु वि पुव्वेसु हवंति भिलिदाणी ॥ 347 ॥

गाथार्थ - इन चौदह पूर्वों की सर्व वस्तु मिलकर एक सौ पंचानवे (195) होती हैं और प्राभृतों का प्रमाण तीन हजार नौ सौ (3900) होता है।

(9)

विशेषार्थ - इन चौदह पूर्व में वस्तुओं की संख्या क्रम से 10, 14, 8, 18, 12, 12, 16, 20, 30, 15, 10, 10, 10, 10 होती है। इन सब वस्तुओं का जोड़ 195 होता है।

एककेक्कम्हि य वत्थू बीसं बीसं च पाहुड़ा भणिदा।  
विसम-समा हि य वत्थु सब्वे पुण पाहुडे हि समा

॥ 86 ॥

एक-एक वस्तु में बीस-बीस प्राभृत कहे गये हैं। पूर्वों में वस्तुएँ सम व विषम हैं, किन्तु प्राभृत सम हैं। पूर्वों के पृथक्-पृथक् प्राभृतों का योग यह है - 200, 280, 160, 360, 240, 320, 400, 600, 300, 200, 200, 200, 200। सब प्राभृतों का योग ( $195 \times 20$ ) तीन हजार नौ सौ मात्र होता है।

पूर्वकथित बीस प्रकार के श्रुतज्ञान का पुनः कथन -

अक्षरश्रुत (द्रव्य श्रुत) के अर्थ अक्षर, पद, संघात,

(10)

प्रतिपत्तिक अनुयोग, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत, वस्तु और पूर्व तथा इन पर क्रमशः एक-एक अक्षर की वृद्धि होने पर उनके अर्थ अक्षर समास आदि ये अठारह भेद होते हैं। इनमें पर्याय और पर्याय समास मिलने से अङ्गप्रविष्ट बारह प्रकार का और अङ्गबाह्य सामायिक आदि चौदह प्रकार का है। द्वादशांग के समस्त पदों की संख्या -

बारूतरसयकोड़ी तेसीदी तहय होंति लक्खाणं ।  
अद्वावण्ण सहस्रा पञ्चेव पदाणि अंगाणं ॥350॥

गाथार्थ - द्वादशांग के समस्त पद एक सौ बारह करोड़ बयासी लाख अद्वावन हजार पाँच (1128358005) होते हैं।

विशेषार्थ - सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षरों का एक मध्यम पद होता है। इस मध्यम पद के द्वारा अङ्गों और पूर्वों का पदविभाग कहा

(11)

गया है। उपर्युक्त बारह अंगों में ऐसे मध्यम पदों की संख्या बतलायी गयी है। श्रुतज्ञान एक सौ बारह करोड़ (छप्पन करोड़ के दुगुने) तिरासी लाख अट्टावन हजार पाँच पद होते हैं। श्रुतज्ञान के कुल अक्षर एक कम एकटी प्रमाण हैं (184467, 4407370, 9551615) इस संख्या को मध्यम पद के अक्षरों (16348307888) से भाग देने पर एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख, अट्टावन हजार, पाँच पद संख्या प्राप्त होती है और 80108175 अक्षर शेष रहते हैं। इन शेष अक्षरों से चौदह प्रकीर्णक रूप अङ्ग बाह्य की रचना होती है। इसे गाथा द्वारा कहते हैं।

### अङ्गबाह्य अक्षरों की संख्या -

आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर प्रकीर्णक के अक्षरों का प्रमाण है।

**विशेषार्थ -** समस्त संयोगी अक्षरों का प्रमाण

(12)

18446744073709551615 इस अक्षर संख्या को पद अक्षर संख्या 16348307888 से भाग देने पर 18446744073709551615/16348307888 = 1128358005 भाज्यफल और 80108175 अक्षर शेष रहते हैं। जो एक पद की अक्षर संख्या से न्यून है। इन अक्षरों के द्वारा अंगबाह्य चौदह प्रकीर्णकों की रचना होती है। इनका कथन आगे गाथा 367-68 में किया जाएगा।

समस्त अक्षरों का प्रमाण प्राप्त करने की विधि -

तीनीस व्यंजन, सत्ताईस स्वर तथा चार योगवाह ये सब  $(33+27+4)=64$  मूल वर्ण (मूल अक्षर) कहे गये हैं। इन चौंसठ अक्षरों का विरलन कर और प्रत्येक के ऊपर दो को देकर परस्पर गुणा करके एक घटाने पर श्रुतज्ञान के अक्षरों का प्रमाण होता है। वे अक्षर एक आठ चार-चार छः सात चार-चार शून्य सात तीन सात शून्य नव पाँच-

(13)

पाँच एक छः एक पाँच हैं।

**विशेषार्थ** - वर्गाक्षर पच्चीस, अन्तस्थ चार और उष्माक्षर चार, इस प्रकार तैंतीस व्यंजन होते हैं। अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ ये नौ स्वर होते हैं। इनमें से प्रत्येक हस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से स्वर सत्ताईस होते हैं। अयोगवाह अं, अः, . . क और . . प ये चार ही अयोगवाह होते हैं। इस प्रकार सब अक्षर  $(27+33+4)$  64 होते हैं। एक मात्रा वाला वर्ण हस्व, दो मात्रा वाला दीर्घ, तीन मात्रा वाला प्लुत जानना चाहिए और व्यंजन अर्थ मात्रा वाला होता है। इन चौसठ अक्षरों के संयोगाक्षर लाने का विधान- उसके लिए गणित गाथा-संयोगावरणों को लाने के लिए चौसठ संख्या प्रमाण दो राशि (दो का अङ्क) स्थापित करें। पश्चात् उनका परस्पर गुण करके जो लब्ध आवे, उसमें से एक कम करने पर कुल संयोग अक्षर होते हैं।

(14)

अक्षरों की चौसठ संख्या का विरलन करें। यहाँ चौसठ  
अक्षरों की स्थापना इस प्रकार है - अ आ आ 3, इ ई ई  
3, उ ऊ ऊ 3, क्र, क्र क्र 3, लृ लृ लृ 3, ए ए 2, ए 3,  
ऐ ऐ 2, ऐ 3, ओ ओ 2, ओ 3, औ औ 2, औ 3, क ख  
ग घ ङ, च छ ज झ ब; ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ  
ब भ म, य र ल व, श ष स ह क प अं अः।

**शङ्का** - इन अक्षरों में कँ, खँ, गँ, घँ, झँ इन पाँच धारणाओं को क्यों नहीं ग्रहण किया ?

समाधान - नहीं, क्योंकि स्वर रहित के वर्ग का अनुसरण करने वाले संयोग में उत्पन्न हुई धारणाओं का संयोगाक्षरों में अन्तर्भाव हो जाता है।

(15)

222222222222222222222222 परस्पर  
गुण करने से 18446744073709-551616 यह राशि  
प्राप्त होती है। इस संख्या में से एक कम करने पर संयोगी  
अक्षरों का प्रमाण प्राप्त होता है।

चौंसठ अक्षरों की संख्या का विरलन कर और उसको  
द्विगुणित कर वर्गित-संवर्गित करने पर एक संयोगी और  
द्विसंयोगी आदि श्रुतज्ञान के विकल्प कैसे उत्पन्न होते हैं और  
उस उत्पन्न हुई राशि में से एक कम किसलिए किया जाता  
है, ऐसा पूछने पर कहते हैं - प्रथम, अक्षर का एक ही भंग  
होता है, क्योंकि उसका शेष अक्षरों के साथ कोई सम्बन्ध  
नहीं है। आगे दूसरे अक्षर की विवक्षा करने पर दो भंग होते  
हैं, क्योंकि स्वस्थान की अपेक्षा एक भंग, पहले व दूसरे  
अक्षर से दूसरा भंग, इस प्रकार दो ही भंग होते हैं।

शङ्खा - संयोग क्या है ? क्या दो अक्षरों की एकता संयोग

(16)

है ? क्या उनका एक साथ उच्चारण करना संयोग है ? क्या  
उनकी एकार्थता (एकार्थबोधकता) का नाम संयोग है ?

समाधान - दो अक्षरों की एकता तो संयोग हो नहीं  
सकती, क्योंकि एकत्व भाव मानने पर द्वित्व का नाश हो  
जाने के कारण उनका संयोग होने में विरोध आता है।  
सहोच्चारण का नाम भी संयोग नहीं है, क्योंकि चौंसठ अक्षरों  
का एक साथ उच्चारण करना बनता नहीं है। इसलिए  
एकार्थता का नाम संयोग है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

शङ्खा - एक अर्थ में विद्यमान बहुत अक्षरों की एक  
अक्षर संज्ञा कैसे हो सकती है ?

समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अर्थ के द्वारा  
उन सभी का एकत्व पाया जाता है।

वर्तमान काल में बहुत अक्षरों का एक अक्षरपना नहीं  
उपलब्ध होता है, ऐसा निश्चय करना भी युक्त नहीं है, क्योंकि

(17)

मिलकर ( $8-1=7$ ) भंग होते हैं। जितने अक्षर होते हैं उतने ही श्रुतज्ञान के विकल्प होते हैं, क्योंकि सर्वत्र कारण का अनुसरण करने वाले कार्य होते हैं। इसीलिए अन्योन्य गुणित राशि में से एक कम किया जाता है।

अब उनके उच्चारण का क्रम कहते हैं - आकार के एक संयोग से एक अक्षर उपलब्ध होता है ।। आकार के भी एक संयोग से एक अक्षर विकल्प उपलब्ध होता है। एक आकार 3 के भी एक संयोग से एक अक्षर विकल्प उपलब्ध होता है ।। इस प्रकार एक संयोगी अक्षर तीन होते हैं ।। पुनः आकार और आकार के द्विसंयोग से चौथा अक्षर विकल्प होता है ।। पुनः आकार और आ 3 कार के द्विसंयोग से पाँचवां अक्षर विकल्प होता है ।। पुनः आकार और आ 3 कार के द्विसंयोग से छठा अक्षर विकल्प होता है ।। पुनः आकार, आकार और र आ 3 कार के त्रिसंयोग से सातवाँ अक्षर होता है ।। पुनः प्रथम द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के आठ भंग होते हैं ।। अब पूर्वोक्त भंगों के

(20)

अक्षर विकल्प होता है ।। जितने अक्षर होते हैं उतने ही श्रुतज्ञान के विकल्प होते हैं, क्योंकि सर्वत्र कारण का अनुकरण करने वाले कार्य उपलब्ध होते हैं। इसलिए अन्योन्य गुणित राशि में से एक कम करते हैं।

अब चतुर्थ अक्षर के विवक्षित होने पर एक संयोग से एक भंग होता है ।। प्रथम और चतुर्थ के संयोग से दूसरा अक्षर द्वि संयोगी होता है ।। द्वितीय और चतुर्थ अक्षरों के द्वि संयोग से तीसरा अक्षर होता है ।। तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के द्वि संयोगी से चौथा अक्षर होता है ।। प्रथम द्वितीय और चतुर्थ अक्षरों के त्रिसंयोग से पाँचवा अक्षर होता है ।। प्रथम, तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के त्रिसंयोग से छठा अक्षर होता है ।। पुनः द्वितीय तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के त्रिसंयोग से सातवाँ अक्षर होता है ।। पुनः प्रथम द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के आठ भंग होते हैं ।। अब पूर्वोक्त भंगों के

(21)

वर्तमान काल में भी 'त्वकम्य' इत्यादिक बहुत अक्षरों के एक अर्थ में विद्यमान होते हुए एकाक्षरता उपलब्ध होती है। स्वरों से अन्तरित न होकर एक अर्थ में विद्यमान व्यंजनों के ही एक अक्षरपना नहीं है, किन्तु स्वरों के द्वारा अन्तर को प्राप्त हुए बहुत व्यंजनों के भी एकाक्षरपना अविरद्ध है, क्योंकि अत्यन्त भिन्न अक्षरों की एक अर्थ में वृत्ति होने की अपेक्षा उनमें कोई भेद नहीं है।

प्रथम और द्वितीय अक्षरों के भंगों को एक साथ लाने के प्रथम और द्वितीय अक्षरों का विरलन कर और उसको दूना कर परस्पर गुणा करने से चार होते हैं।  $(1^2, 1^2) = 4$  फिर इसमें से एक अंक के घटा देने पर  $(4-1)=3$ ] प्रथम और द्वितीय अक्षरों के एक संयोग और द्वि-संयोग रूप से तीन अक्षर होते हैं और श्रुतज्ञान के विकल्प भी उतने ही होते हैं। क्योंकि कारण का भेद कार्यभेद का अविनाभावी होता है,

(18)

इसी कारण से विरलन कर और विरलित राशि प्रमाण दो अंकों को स्थापित कर परस्पर गुणा करके एक कम किया जाता है।

तीसरे अक्षर से विवक्षित होने पर एक संयोग से एक अक्षर होता है। प्रथम और तृतीय अक्षरों के द्विसंयोग से दूसरा भंग होता है। 2. द्वितीय और तृतीय अक्षरों के द्विसंयोग से तीसरा भंग होता है। 3. प्रथम, द्वितीय और तृतीय अक्षरों के त्रिसंयोग से चौथा भंग होता है। 4. इस प्रकार तृतीय अक्षर के एक, दो और तीन संयोगों से चार भंग लब्ध होते हैं। अब प्रथम और द्वितीय अक्षरों के भंगों के साथ तृतीय अक्षर के भंग लाना इष्ट है। इसलिए तीन अक्षरों का विरलन कर और तत्प्रमाण दो स्थापित कर परस्पर गुणा करने पर आठ भंग उत्पन्न होते हैं।  $(1^2, 1^2, 1^2=8)$ । इनमें से एक कम करने पर प्रथम और द्वितीय और तृतीय अक्षरों के सब

(19)

साथ चतुर्थ अक्षर के भंगों के लाने पर चार अङ्गों का विरलन और विरलित राशि के प्रत्येक एक को द्विगुणित कर परस्पर गुणित करने पर ( $1^2, 1^2, 1^2$ ) सोलह (16) भंग होते हैं। एक कम करने पर चार अक्षरों के भंग (16-1) पन्द्रह (15) होते हैं। यहाँ इनके उच्चारण का क्रम कहते हैं। यथा आकार का एक संयोग से एक अक्षर होता है 1। आकार का भी एक संयोग से दूसरा अक्षर होता है 2। आकार 3 का भी एक संयोग से तीसरा अक्षर होता है 3। इकार का एक संयोग से चौथा अक्षर होता है 4। पुनः अ कार और आकार के द्विसंयोग से पाँचवा अक्षर होता है 5। पुनः अकार और आ 3 कार के द्विसंयोग से छठा अक्षर होता है 6। पुनः अकार और इकार के द्विसंयोग से सातवाँ अक्षर होता है 7। पुनः आकार और आ 3 कार के द्विसंयोग से आठवाँ अक्षर होता है 8। पुनः आकार और इकार के द्विसंयोग से नौवाँ अक्षर उत्पन्न होता है 9।

(22)

पुनः आ 3 कार और इकार के द्विसंयोग से दसवाँ अक्षर होता है 10। पुनः अकार, आकार और आ 3 कार के त्रिसंयोग से बारहवाँ अक्षर होता है 12। पुनः अकार, आ 3 कार और इकार के त्रिसंयोग से तेरहवाँ अक्षर होता है 13। पुनः आकार आ 3 कार और इकार के त्रिसंयोग से चौदहवाँ अक्षर होता है 14। पुनः अकार आकार आ 3 कार और इकार के चार संयोग से पन्द्रहवाँ अक्षर होता है 15। इस प्रकार चार अक्षरों के एक, दो, तीन और चार संयोग से पन्द्रह अक्षर उत्पन्न होते हैं। यहाँ पन्द्रह ही श्रुतज्ञान के विकल्प होते हैं और तदावरण के विकल्प भी उतने ही होते हैं। अतः इस विधि से अक्षर उत्पन्न होते हैं। अतः अन्योन्याभ्यस्त राशि सर्वत्र एक एक से कम करनी चाहिए। इस विधि से शेष अक्षरों का कथन समझना चाहिए। इस विधि से चौसठ अक्षरों के 18446741073709551615 इतने मात्र संयोग अक्षर

(23)

उत्पन्न होते हैं तथा उनसे इतने ही श्रुतज्ञान उत्पन्न होते हैं।

समीक्षा - वैदिक सम्प्रदाय के महाभारत के तथा जैनधर्म के ध्वल, जयध्वल के विशाल स्वरूप उसके अध्येताओं को सुविदित हैं, इन ग्रन्थों में प्रायः 1-1 लाख श्लोक हैं। एक श्लोक में 32 अक्षर होते हैं। अतः सम्पूर्ण शास्त्र में 32,00,000 अक्षर हैं। इस उदाहरण से हम समस्त श्रुतज्ञान की विशालता का अनुमान निम्न गणित के द्वारा करने का एक प्रयास करेंगे।

समस्त श्रुतपद = 112,83,58005 हैं। श्रुतज्ञान में जो पद को स्वीकार किया गया है, उसको मध्यम पद कहते हैं। एक मध्यम पद में = 16348307888 अक्षर हैं। समस्त श्रुतज्ञान में अपुनरुक्त अक्षर अर्थात् जिसके दो बार प्रयोग नहीं किये गये ऐसे अक्षर एक कम एकटी प्रमाण अर्थात् 1844674073709551616 - 1 अक्षर हैं।

(24)

एक मध्यम पद से ही जो ग्रन्थ बनेगा, वह ग्रन्थ ही अनेक टनों का होगा तब समस्त ग्रन्थ तो लाखों टनों के होंगे। बारह अंगों के नाम और उनके पदों की संख्या निम्नोक्त हैं -

1. आचाराङ्ग 2. सूत्रकृताङ्ग 3. स्थानाङ्ग 4. समवायाङ्ग  
5. व्याख्याप्रज्ञसि 6. धर्मकथाङ्ग 7. उपासकाध्ययनाङ्ग 8.  
अन्तःकृद्वशाङ्ग 9. अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग 10. प्रश्नव्याकरण  
और 11. विपाकसूत्र; इन ग्यारह अंगों के पदों की संख्या  
क्रम से 1. अद्वारह हजार 2. छत्तीस हजार 3. बयालीस  
हजार, 4. एक लाख चौंसठ हजार 5. दो लाख अद्वाइस  
हजार, 6. पाँच लाख छप्पन हजार, 7. ग्यारह लाख सत्तर  
हजार 8. तेइस लाख अद्वाइस हजार 9. बानवे लाख  
चवालीस हजार 10. तिरानवे लाख सोलह हजार पद हैं।  
11. विपाकसूत्र में एक करोड़ चौरासी लाख पद हैं। इन  
पदों का जोड़ चार करोड़, पन्द्रह लाख, दो हजार होता है।

(25)

12. बारहवें दृष्टिवाद अंग में सम्पूर्ण पद एक अरब, आठ करोड़, अड़सठ लाख, छप्पन हजार, पाँच होते हैं। अंगबाहु सम्बन्धी अक्षरों का प्रमाण आठ करोड़, एक लाख, आठ हजार, एक सौ पचहत्तर होता है।

अंग प्रविष्ट के अर्थाधिकार बारह प्रकार के हैं। वे ये हैं -

आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञसि, नाथ वा ज्ञात् धर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतकृदशा, अनुत्तरौप-पादिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद।

(1) आचारांग - अठारह हजार पदों के द्वारा यह बतलाया गया है कि किस प्रकार चलना चाहिए ? किस प्रकार खड़े रहना चाहिए ? किस प्रकार बैठना चाहिए ? किस प्रकार शयन करना चाहिए ? किस प्रकार भोजन करना चाहिए ? किस प्रकार संभाषण करना चाहिए ? जिससे कि पाप का बन्ध न हो ।

(26)

कधं चरे कधं चिट्ठे कधंमासे कधंसए ।  
कधं भुजेज्ज भासेज्ज कधं पावं ण बज्जदि ॥70॥  
जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए ।  
जदं भुजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्जदि ॥71॥

यत्नपूर्वक चलना चाहिए, यत्नपूर्वक ठहरना चाहिए, यत्नपूर्वक बैठना चाहिए, यत्नपूर्वक सोना चाहिए, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिए और यत्नपूर्वक भाषण करना चाहिए। इस प्रकार पाप बन्ध नहीं होता ।

इस आचारांग में चर्याविधि, आठ शुद्धियों, पाँच समितियों और तीन गुमियों के भेदों की प्ररूपण की जाती है। इत्यादि रूप से यह मुनियों के आचरण का वर्णन करता है।

समीक्षा - यह आचारांग गृहस्थ एवं मुनियों के लिए संविधान है, आचार संहिता है, नैतिक शास्त्र है। “आचारः

(27)

प्रथमो धर्मः” के अनुसार सदाचार मानव का प्रथम धर्म है। इसलिए सर्व प्रथम आचार सम्बन्धी परिज्ञान होना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य है। क्योंकि Character is lost, everything is lost अर्थात् चारित्र नष्ट होने से सब कुछ नष्ट हो जाता है। जहाँ सदाचरण है, वहाँ सत्त्विश्वास एवं सम्यक्ज्ञान अवश्य होता है। बिना चारित्र, तद्द्वय मोक्षगामी तीन ज्ञान के धारी, दो कल्पाणकों से मण्डित तीर्थकर भी मनः पर्यय ज्ञान, केवल ज्ञान को भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं तथा मोक्ष की उपलब्धि भी नहीं कर पाते हैं।

(2) सूत्रकृतांग - छत्तीस हजार (36000) पद प्रमाण सूत्रकृतांग में ज्ञान विनय, प्रज्ञापना, कल्पाकल्प, छेदोप-स्थापना और व्यवहार धर्म क्रियाओं की दिग्न्तर शुद्धि से प्ररूपणा की जाती है तथा यह स्वसमय और परसमय का निरूपण करता है। यह अंग स्त्री सम्बन्धी परिणाम, क्लीवता,

(28)

अस्फुट्टत्व, काम का आवेश, विलास, आस्फालन सुख और पुरुष की इच्छा करना आदि स्त्री के लक्षणों का प्ररूपण करता है।

समीक्षा - इस शास्त्र विभाग में ज्ञान प्राप्ति के कारणभूत ज्ञान-विनय, करणीय एवं अकरणीय दोष दूर करने के उपायभूत व्यवहारिक धर्म की शुद्धता आदि के बारे में वर्णन है। इसके साथ-साथ धर्म के सत्य स्वरूप एवं मिथ्या स्वरूप का भी वर्णन है। इसमें स्त्रियों के विभिन्न मनोभाव, विभिन्न स्त्रियों के लक्षण तथा कामशास्त्र का वर्णन है।

(3) स्थानांग- यह अंग बयालीस हजार (42000) पदों के द्वारा जीव और पुद्गल आदि के एक को आदि लेकर एकोत्तर क्रम से स्थानों का वर्णन करता है। यथा-

यह जीव महात्मा अविनश्वर चैतन्य गुण से अथवा सर्वजीव साधारण उपयोगरूप लक्षण से युक्त होने के कारण

(29)

एक है। वह ज्ञान और दर्शन, संसारी और मुक्त, अथवा भव्य और अभव्य रूप दो प्रकार का है। ज्ञान चेतना, कर्म चेतना और कर्म फल चेतना की अपेक्षा, उत्पाद व्यय ध्रौव्य की अपेक्षा अथवा द्रव्य गुण पर्याय की अपेक्षा तीन प्रकार का है। नरकादि चार गतियों में परिभ्रमण करने के कारण चार संक्रामणों से युक्त है। औपशमिक आदि पाँच भावों से युक्त होने के कारण पाँच भेद रूप है। मरण समय में पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व व अधः इन छह दिशाओं में गमन करने रूप छह अनुक्रमों से सहित होने के कारण छह प्रकार रूप है। सात भंगों से उसका सद्भाव सिद्ध है, अतः वह सात प्रकार है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के आस्त्र से युक्त होने अथवा आठ कर्मों या सम्यक्त्वादि आठ गुणों का आश्रय होने से आठ प्रकार का है। नौ पदार्थ रूप परिणमन करने की अपेक्षा नौ प्रकार है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, प्रत्येक व साधारण

(30)

बनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय रूप दस स्थानों में प्राप्त होने से दस प्रकार का है।

**समीक्षा** - इस शास्त्र में विभिन्न द्रव्यों के विधिवत् वर्गीकरण का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार आधुनिक विज्ञान में जीव के विभिन्न तथा भौतिक तत्त्व में क्रमबद्ध समुचित विभाग के माध्यम से वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार प्राचीन काल में भी यह पद्धति पूर्ण विकसित रूप में थी। इस प्रकार के वर्गीकरण से विषय का प्रस्तुतीकरण तथा अधिगम सरलता से हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि केवल आधुनिक युग में ही विभिन्न विषयों का प्रतिपादन क्रमबद्ध और व्यवस्थित रूप में नहीं होता है परन्तु प्राचीन काल में भी होता था।

**(4) समवायांग** - समवायांग में एक लाख चौंसठ हजार (164000) पदों द्वारा सर्व पदार्थों की समानता का

(31)

विचार किया जाता है। वह समवाय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का है। उनमें से प्रथम द्रव्य समवाय का कथन इस प्रकार है - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव के प्रदेश परस्पर समान हैं। जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि, अप्रतिष्ठान नरक और नंदीश्वर दीपस्थ एक वापी, इनके समान रूप से एक लाख योजन विस्तार की अपेक्षा क्षेत्र समवाय होने से क्षेत्र समवाय है अथवा प्रथम नरक का पहला इन्द्रक सीमन्तक बिल, मनुष्य क्षेत्र, सौधर्मकल्प का पहला इन्द्रक ऋतुविमान और सिद्ध लोक ये चारों क्षेत्र की अपेक्षा सदृश है, यह क्षेत्र समवाय है। समय, आवली, क्षण, लव, मुहूर्त, दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, युग, पूर्व, पर्व, पल्य, सागर, अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी ये परस्पर समान हैं अर्थात् एक समय दूसरे समय के समान है। एक आवली दूसरी आवली के समान है। इसी

(32)

तरह आगे भी समझना चाहिए। यह काल समवाय है। केवलज्ञान केवलदर्शन के बराबर है, यह भाव समवाय है।

**समीक्षा** - वर्तमान काल में जिस प्रकार एक तत्त्व की समानता अन्य तत्त्व में कितने अंश में है, ऐसा वर्णन किया जाता है, उसी प्रकार प्राचीन काल में भी एक पदार्थ की समानता दूसरे पदार्थ के साथ की जाती थी, यह पद्धति शास्त्र में वर्णित है। इस प्रणाली से एक द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ तुलनात्मक अध्ययन होता है। तौलनिक अध्ययन से ज्ञान के विभिन्न आयाम खुल जाते हैं।

**(5) व्याख्या प्रज्ञप्ति** - यह दो लाख अट्टाईस हजार पदों द्वारा क्या जीव है, क्या जीव नहीं है, जीव कहाँ उत्पन्न है और कहाँ से आता है, इत्यादिक साठ हजार प्रश्नों के उत्तरों का तथा छियानवे हजार छिन्नच्छेदों से ज्ञापनीय शुभ और अशुभ का वर्णन करता है।

(33)

**समीक्षा** - इस शास्त्र में विभिन्न पहलुओं से जीव का सांगोपांग वर्णन है। इसमें वर्णन किया गया है कि जीव एक चैतन्यभूत द्रव्य होने के कारण जीव का अस्तित्व है और उसका कभी विनाश नहीं होता है भले ही उसमें परिणमन होता रहता है। जीव स्वउपार्जित कर्म के कारण चारों गति में चौरासी लाख योनि में सम्पूर्ण विश्व में यथायोग्य स्थान में जन्म लेता है तथा वृद्धि को प्राप्त होता है और मरण को वरण करता है। जीव के शुभाशुभ भाव के कारण पुण्य और पाप बन्ध होता है और उस पाप-पुण्य बन्ध के कारण जीव विभिन्न गतियों में जन्म लेकर सुख और दुःख का अनुभव करता है।

**(6) नाथ धर्म कथा अथवा ज्ञात् धर्म कथा** - पाँच लाख छप्पन हजार पदों द्वारा सूत्र पौरुषी अर्थात् सिद्धान्तोक्त विधि से स्वाध्याय के प्रस्थापन में भगवान् तीर्थकर की तालु व ओष्ट पुट के हलन-चलन के विना प्रवर्तमान समस्त

(34)

भाषाओं स्वरूप दिव्य ध्वनि द्वारा दी गयी धर्मदेशना की विधि का, संशययुक्त गणधरदेव के संशय को नष्ट करने की विधि का तथा बहुत प्रकार कथा व उपकथाओं के स्वरूप का कथन करता है।

**समीक्षा** - इस शास्त्र में शिक्षाप्रद अनेक सत्य कथा एवं उपकथाओं का वर्णन है। सच्ची कथाओं से अच्छी प्रेरणा मिलती है। कथाओं के माध्यम से नीतिशास्त्र, आचार संहिता, परस्परों के कर्तव्य आदि का वर्णन किया जाता है। जिस प्रकार विष्णुगुप्त (चाणक्य) या विष्णु शर्मा ने पंचतंत्र में पशु-पक्षियों के माध्यम से विभिन्न काल्पनिक कथाओं के माध्यम से नैतिक एवं व्यावहारिक शिक्षा का वर्णन किया है तथा इसप की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार नाथ धर्मकथा में शिक्षाप्रद सच्ची कहानियों का वर्णन है। आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान में भी कथाओं के माध्यम से शिक्षा प्रदान करना

(35)

एक उत्कृष्ट शैक्षणिक पहलु माना गया है।

(7) उपासकाध्ययन - ग्यारह लाख सत्तर हजार पदों के द्वारा ग्यारह प्रकार के श्रावक धर्म का निरूपण करता है। यहाँ उपयोगी गाथा -

दंसण-वद-सामाइय-पोसह-सचित्त-रायभत्तेय ।  
बम्हारंभ-परिगग्ह-अणुमणमुद्दिठ्ठ-देसविरदिय ॥ (7)

दार्शनिक, ब्रतिक, सामायिक, प्रोषधोपवासी, सचित्त-विरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रह-विरत, अनुमति विरत और उद्दिष्टविरत इन ग्यारह प्रकार के श्रावकों के लक्षण, ब्रत धारण करने की विधि और उनके आचरण का वर्णन करता है।

समीक्षा - इस शास्त्र में गृहस्थ आश्रम में रहने वाले आदर्श नागरिकों के आदर्श कर्तव्यों का वर्णन है। इस शास्त्र

(36)

में स्वयं को, परिवार को तथा राष्ट्र को आदर्श एवं उन्नत बनाने के लिए किन-किन कर्तव्यों का अधिकारों का पालन करना चाहिए, इसका वर्णन है। संक्षिप्ततः कहा जाये तो यह एक सच्चा नैतिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय संविधान है। आधुनिक संविधान में अधिकार के ऊपर अधिक जोर दिया गया है तथा कर्तव्यों का पालन अनुशासन (न्यायिक प्रक्रिया) के भय से किया जाता है। परन्तु इस संविधान के अनुसार कर्तव्य पालन स्वेच्छा से कर अधिकार प्राप्त करने के निर्देश दिये गये हैं।

(8) अन्तकृद्दशांग - तेवीस लाख, अट्टाईस हजार पदों के द्वारा एक तीर्थकर के तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहन कर प्रातिहार्य (अतिशय विशेषों) को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हुए दस-दस अन्तःकृत केवलियों का वर्णन करता है। तत्त्वार्थभाष्य में भी कहा है- जिन्होंने

(37)

इस संसार का अन्त किया, वे अन्तःकृत केवली हैं। श्री वर्द्धमान तीर्थकर के तीर्थ में नमि, मतंग, सौमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्किबिल, पालम्ब, अष्टपुत्र, ये दस अन्तःकृत केवली हुए हैं। इसी प्रकार श्री कृष्णभद्रेव आदि तेवीस तीर्थकरों के तीर्थ में अन्य दस-दस अनगार दारुण उपसर्गों को जीतकर सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से अन्तःकृत केवली हुए। इस अंग में उन दस-दस का वर्णन किया जाता है, अतएव वह अन्तःकृद्वशांग कहलाता है।

**समीक्षा** - इस प्रकरण से यह शिक्षा मिलती है कि किस प्रकार ध्येय-निष्ठ, धैर्यशाली, स्वतन्त्रता प्रेमी महामानव समस्त कष्टों को समता से सहन करके लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। कहा भी है -

जीवन में आँधी आवे आवे घोर तूफान।  
सुमेरु सा अविचल रहे यही साधु पहिचान ॥

(38)

इससे यह सिद्ध होता है कि हर युग में महापुरुषों को भी कष्ट देने वाले दुष्ट व्यक्ति होते हैं परन्तु दुष्टों का प्रतिकार वे दुष्टता से न करके समता से करते हैं। वे महापुरुष यह प्रायोगिक रूप से आदर्श प्रस्तुत करते हैं कि पाप से घृणा करो किन्तु पापी से नहीं ।

**(9) अनुत्तरौपपादिकदशांग** - अनुत्तरौपपादिकदशांग नामक अंग में बानवे लाख चवालीस हजार पदों द्वारा एक-एक तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहकर और प्रातिहार्य प्राप्त करके पाँच अनुत्तर विमानों में गए हुए दस-दस अनुत्तरौपपादिकों का वर्णन करता है। 'तत्त्वार्थभाष्य' में भी कहा है - उपपाद जन्म ही जिनका प्रयोजन है, उन्हें औपपादिक कहते हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि, ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। जो अनुत्तरों में उपपाद जन्म से पैदा होते हैं, वे अनुत्तरौपपादिक हैं। कृषिदास,

(39)

धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिकेय, आनन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दस अनुत्तरौपपादिक श्री वर्द्धमान तीर्थकर के तीर्थ में अन्य दस-दस महा साधु दारुण उपसर्गों को जीतकर विजयादिक पाँच अनुत्तरों में उत्पन्न हुए। इस प्रकार अनुत्तरों में उत्पन्न होने वाले दस साधुओं का वर्णन जिसमें किया जाय, वह अनुत्तरौपपादिक दशांग नाम का अंग है। जिस प्रकार अन्तःकृत दशांग में वर्णन किया गया है कि उपसर्ग सहन करके महान् साधक मोक्ष प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार इस अंग में वर्णन किया गया है कि कुछ साधक उपसर्ग सहन करके महर्द्धिक देव होते हैं। उपर्युक्त दोनों प्रकरण में यह भी सिद्ध होता है कि कष्ट समान होने पर भी फल अलग-अलग हो सकता है। जो कष्टों को पूर्ण समता से सहन करता है, उसको मोक्ष मिलता है। समता में किंचित् कम होने पर स्वर्ग मिलता है और जो विचलित हो जाता है,

(40)

उसको दुर्गति मिलती है।

(10) प्रश्न व्याकरण - प्रश्न व्याकरण नाम का अंग तिरानवे लाख सोलह हजार पदों के द्वारा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन चार कथाओं का (तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल सम्बन्धी धन-धान्य, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण, जय और पराजय सम्बन्धी प्रश्नों के पूछने पर उनके उपाय का) वर्णन करता है।

जो नाना प्रकार की एकान्त दृष्टियों का और दूसरे समयों का निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नौ प्रकार के पदार्थों का प्ररूपण करती है, उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। जिसमें पहले परसमय के द्वारा स्वसमय में दोष बतलाये जाते हैं, अनन्तर पर समय की आधारभूत अनेक एकान्त दृष्टियों का शोधन करके स्वसमय की स्थापना की जाती है और छह द्रव्य, नौ पदार्थों का प्ररूपण किया जाता है, उसे

(41)

विक्षेपणी कथा कहते हैं। पुण्य के फल का कथन करने वाली कथा को संवेदनी कथा कहते हैं।

अथवा संसार शरीर और भोगों में वैराग्य को उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहते हैं। कहा भी है -

आक्षेपणी तत्त्वविधानभूतां विक्षेपणी तत्त्वदिग्न्तं  
शुद्धिम् ।  
संवेगिनी धर्मफल प्रपञ्चां निर्वेदनी चाह कथां  
विरागाम् ॥

तत्त्वों का निरूपण करने वाली आक्षेपणी कथा है। तत्त्व से दिशान्तर को प्राप्त हुई दृष्टियों का शोधन करने वाली अर्थात् परमत की एकान्तदृष्टियों का शोधन करके स्वसमय की स्थापना करने वाली विक्षेपणी कथा है। विस्तार से धर्म के फल का वर्णन करने वाली संवेगिनी कथा है और वैराग्य को उत्पन्न करने वाली निर्वेदनी कथा है।

(42)

इन कथाओं का प्रतिपादन करते समय जो जिनवचन को नहीं जानता है अर्थात् जिसका जिनवचन में प्रवेश नहीं है, ऐसे पुरुष को विक्षेपणी कथा का उपदेश नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिसने स्वसमय के रहस्य को नहीं जाना है और परसमय को प्रतिपादन करने वाली कथाओं के सुनने से व्याकुलित चित्त होकर वह मिथ्यात्व को स्वीकार न कर लेवे, इसलिए स्वसमय के रहस्य को नहीं जानने वाले पुरुष को विक्षेपणी कथा का उपदेश न देकर शेष तीन कथाओं का उपदेश देना चाहिए। उक्त तीन कथाओं द्वारा जिसने स्वसमय को भली भाँति समझ लिया है, जो पुण्य और पाप के स्वरूप को जानता है, जिस तरह मज्जा अर्थात् हड्डियों के मध्य में रहने वाला रस हड्डी से संसक्त होकर ही शरीर में रहता है, उसी तरह जो जिनशासन में अनुरक्त है, जिनवचन में जिसको किसी प्रकार की विचिकित्सा नहीं रही है, जो

(43)

भोग और रति में विरक्त है और जो तप, शील और नियम से युक्त है, ऐसे पुरुष को ही पश्चात् विक्षेपणी कथा का उपदेश देना चाहिए। प्ररूपण करके उत्तम रूप से ज्ञान कराने वाले के लिये, यह अकथा भी तब कथारूप हो जाती है। इसलिए योग्य पुरुष को प्राप्त करके ही साधु की कथा का उपदेश देना चाहिए। यह प्रश्न व्याकरण नाम का अंग प्रश्न के अनुसार नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवन, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या का भी प्ररूपण करता है।

**समीक्षा** - प्रकृति के सूक्ष्म व्यापक अध्ययन से तथा कर्म-कारण सिद्धान्त के आधार पर तीनों काल सम्बन्धी ज्ञान जिस विज्ञान से होता है, उसी का वर्णन इस शास्त्र में होता था, जिस प्रकार वर्तमान विभिन्न वैज्ञानिक उपकरणों से वर्षा, आँधी, भूकम्प सम्बन्धी ज्ञान किया जाता है, उसी

(44)

प्रकार प्राचीन काल में पशु, पक्षी, बादल, वायु आदि की गतिविधि से परिज्ञान किया जाता था। इसके साथ-साथ विभिन्न तात्त्विक चर्चा से ऐतिहासिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक विषयों का वर्णन इस शास्त्र में होता है।

**(11) विपाक सूत्र** - विपाक सूत्र नाम का अंग एक करोड़ चौरासी लाख पदों के द्वारा पुण्य और पापरूप कर्मों के फल का वर्णन करता है। विश्व के अनन्तानन्त जीवों की विभिन्न विचित्र पूर्ण अवस्थाओं के कारणों का शोध-बोध इस शास्त्र में किया गया है। जिस प्रकार आधुनिक वैज्ञानिकों ने जीवों की विभिन्न अवस्थाओं के कारण जीन्स, विभिन्न ग्रन्थियों के स्राव की खोज की है, परन्तु प्राचीन काल में इससे भी आगे की खोज की गई थी - वह है कर्म परमाणु। जीव जैसा परिणाम करता है, उसके अनुसार अतिसूक्ष्म अनन्तानन्त कर्मपरमाणु जीव के आत्मप्रदेश में

(45)

बन्ध होकर काल प्राप्त करके जीव को विभिन्न सुख-दुःख प्रदान करते हैं।

ग्यारह अंगों के कुल पदों का जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार पद है।

बारहवें दृष्टिवाद अंग के पाँच भेद हैं - (1) परिकर्म (2) सूत्र (3) प्रथमानुयोग (4) पूर्वगत और (5) चूलिका । परिकर्म के पाँच भेद हैं - 1. चंद्रप्रज्ञसि, 2. सूर्य प्रज्ञसि, 3. मायागता, 4. आकाशगता, 5. रूपगता । इनके पदों का प्रमाण क्रम से चन्द्र प्रज्ञसि में छत्तीस लाख पाँच हजार, सूर्य प्रज्ञसि में पाँच लाख तीन हजार, जम्बूद्वीप प्रज्ञसि में तीन लाख पच्चीस हजार, द्वीप समुद्र प्रज्ञसि में बावन लाख छत्तीस हजार, व्याख्या प्रज्ञसि में चौरासी लाख छत्तीस हजार पद हैं। सूत्र में पंचानवें करोड़ पचास लाख पद हैं। प्रथमानुयोग में पाँच हजार पद है। चौदह पूर्व में पंचानवे करोड़ पचास

(46)

लाख पद हैं। पांचों चूलिकाओं में से प्रत्येक में दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दौ सो पद हैं। पांचों परिकर्म के पदों का जोड़ एक करोड़ इक्यासी लाख पाँच हजार है। पांचों चूलिका के पदों का जोड़ दस करोड़ उनचास लाख छियालीस हजार है । 50, 48, 35, 30, 50, 50, 1300, 90, 42, 55, 1300, 160, 450 तथा 625 इन चौदह संख्याओं में से प्रत्येक को दो-दो लाख से गुणित करें। विशेष यह है कि प्राप्त 14 गुणनफलों में से पंचम गुणनफल में एक कम करना चाहिए तथा छठे गुणनफल में 6 जोड़ने चाहिए। इस प्रकार अब प्राप्त अभिनव चौदह ही संख्याएँ चौदहपूर्वों में से प्रयेक पूर्व के पदों की संख्यारूप है। (सार यह है कि चौदह पूर्वों में क्रम से एक करोड़, छियानवे लाख, सत्तर लाख, साठ लाख, एक कम एक करोड़, एक करोड़ छह, छब्बीस करोड़, एक करोड़ अस्सी लाख, चौरासी लाख, एक करोड़

(47)

दस लाख, छब्बीस करोड़, तेरह करोड़, नौ करोड़ और  
चौदहवें पूर्व में बारह करोड़ पचास लाख पद हैं।

‘दृष्टिवाद अंग’ यह गौण्य नाम है, क्योंकि इसमें अनेक  
दृष्टियों का वर्णन है। यह अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति,  
अनुयोग आदि की अपेक्षा संख्यात रूप है और अर्थ की  
अपेक्षा अनन्त रूप है क्योंकि इस दृष्टिवाद के प्रमेय अनन्त  
है। इसमें तदुभयवक्तव्यता (स्वसमय और परसमय दोनों  
वक्तव्यता) हैं।

समीक्षा - इसमें विश्व के विभिन्न महत्वपूर्ण विषयों का  
वर्णन है। इसमें विश्व के विभिन्न दर्शन, विश्व/ब्रह्माण्ड-  
विज्ञान (खगोल-भूगोल) विश्व इतिहास, विश्व के विभिन्न  
मौलिक द्रव्यों के वर्णन के साथ-साथ जल, स्थल, आकाश  
में गमन करने के उपाय रूप परिवर्तन विधा का वर्णन है।  
इस शास्त्र में वह ही पूर्ण दक्ष हो सकता है, जिसके विश्वास,

(48)

विवेक तथा चारित्र निर्दोष तथा उत्कृष्ट हों। जो विश्वास  
आदि में दुर्बल हो, उसमें इतनी योग्यता नहीं है कि वे इसमें  
पारंगत हो जावें। कुछ दुर्बल मानसिक वाले इसके अध्ययन  
से भ्रष्ट हो जाते हैं, इस विश्वास ज्ञान-शाखा की विभिन्न  
उपशाखायें हैं, जिसका वर्णन नीचे किया गया है।

(1) इस दृष्टिवाद के पाँच अधिकार हैं - परिकर्म,  
सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। उनमें से परिकर्म  
के पाँच भेद हैं। चन्द्र प्रज्ञसि, सूर्य प्रज्ञसि, जम्बूद्वीप प्रज्ञसि,  
द्वीपसागर प्रज्ञसि और व्याख्या प्रज्ञसि।

(1) चन्द्रप्रज्ञसि - चन्द्रप्रज्ञसि नाम का परिकर्म छत्तीस  
लाख पाँच हजार पदों के द्वारा चन्द्रमा की आयु, परिवार,  
ऋद्धि, गति और बिम्ब की ऊँचाई आदि का वर्णन करता  
है।

(49)

(2) सूर्य प्रज्ञसि - सूर्य प्रज्ञसि नाम का परिकर्म पाँच लाख तीन हजार पदों के द्वारा सूर्य की आयु, भोग, उपभोग, परिवार, क्रद्धि, गति, बिम्ब की ऊँचाई, दिन की हानि-वृद्धि, किरणों का प्रमाण और प्रकाश आदि का वर्णन करता है।

(3) जम्बूद्वीप प्रज्ञसि - जम्बूद्वीप प्रज्ञसि नाम का परिकर्म तीन लाख पच्चीस हजार पदों के द्वारा जम्बूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न हुए नाना प्रकार के मनुष्य तथा दूसरे तिर्यच आदि का और पर्वत, द्रह, नदी, वेदिका, वर्ष, आवास, अकृत्रिम जिनालय आदि का वर्णन करता है।

(4) द्वीप सागर प्रज्ञसि - द्वीप सागर प्रज्ञसि नाम का परिकर्म बावन लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा उद्धारपल्य से द्वीप और समुद्रों के प्रमाण का तथा द्वीप सागर के अन्तर्भूत नाना प्रकार के दूसरे पदार्थों का वर्णन करता है।

(50)

(5) व्याख्या प्रज्ञसि - व्याख्या प्रज्ञसि नाम का परिकर्म चौरासी लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा रूपी अजीव द्रव्य अर्थात् पुद्गल, अरूपी अजीव द्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल, भव्य सिद्ध और अभव्यसिद्ध जीव इन सबका वर्णन करता है।

(2) दृष्टिवाद अंग का सूत्र नाम का अर्थाधिकार अठासी लाख पदों के द्वारा जीव अबन्धक ही है, अलेपक ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है, निर्गुण ही है, अणुप्रमाण ही है, जीव नास्तिक स्वरूप ही है, जीव अस्तिस्वरूप ही है, पृथ्वी आदिक पाँच भूतों के समुदाय रूप से जीव उत्पन्न होता है, चेतना रहित है, ज्ञान के बिना भी सचेतना है, नित्य ही है, अनित्य ही है, इत्यादि रूप से क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के तीन सौ त्रेसठ मतों का पूर्व पक्षरूप से वर्णन करता है। यह

(51)

त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का भी वर्णन करता है।

इस सूत्र नामक अर्थाधिकार के अठासी अधिकारों में से चार अधिकारों का अर्थ निर्देश मिलता है। उनमें पहला अधिकार अबन्धकों का, दूसरा त्रैराशिकवादियों का, तीसरा नियतिवाद का समझना चाहिए तथा चौथा अधिकार स्वसमय का प्ररूपक है।

समीक्षा - दृष्टिवाद का अर्थ है मतवाद। इसमें सूत्र नाम के प्रभेद में विभिन्न दार्शनिक मतों का वर्णन है। मोह तथा अज्ञान रूपी अंधकार से आछन्न जीवों की श्रद्धा तथा बुद्धि संकीर्ण हो जाती है, जिसके कारण वे जीव प्रत्येक द्रव्य, विषयों को संकीर्ण दृष्टि से जानते हैं, मानते हैं तथा प्रतिपादित करते हैं। इससे धर्मान्धता/साम्प्रदायिकता/धार्मिक कटूरता जन्म लेती है। इससे पुनः विषमता जन्म

(52)

लेती है। इस विषमता की सन्तान हैं - वाद, विवाद, फूट, कलह, युद्ध, संहार, विनाश। विश्व इतिहास इसी के कारण रक्तरंजित है। इन सबके निराकरण के उपाय हैं - अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सापेक्षवाद, साम्यवाद। इसे ही स्व-धर्म, सच्चा-धर्म, स्व समय कहते हैं।

(3) दृष्टिवाद अंग का प्रथमानुयोग अर्थाधिकार पाँच हजार पदों के द्वारा पुराणों का वर्णन करता है, कहा भी है -

जिनेन्द्र देव ने जगत् में बारह प्रकार के पुराणों का उपदेश किया है। वे समस्त पुराण जिनवंश और राजवंशों का वर्णन करते हैं। पहला अरिहन्त अर्थात् तीर्थकरों का, दूसरा चक्रवर्तियों का, तीसरा विद्याधरों का, चौथा नारायण-प्रतिनारायणों का, पाँचवाँ चारणों का, छठा प्रज्ञाश्रवणों का वंश है। सातवाँ कुरुवंश, आठवाँ हरिवंश, नवाँ इक्ष्वाकुवंश, दसवाँ काश्यपवंश, ग्यारहवाँ वादियों का वंश और बारहवाँ

(53)

नाथ (ज्ञातृ) वंश हैं।

(4) जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता के भेद से चूलिका पाँच प्रकार की है।

1. जलगता चूलिका - 20989200 पदों द्वारा जल में गमन और जलस्तम्भ के कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरणरूप अतिशय आदि का वर्णन करती है।

2. स्थलगता चूलिका - 20989200 पदों द्वारा पृथिवी के भीतर गमन करने के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरणरूप आशर्चय आदि का तथा वास्तु विद्या व भूमि संबंधी दूसरे शुभ-अशुभ कारणों का वर्णन करती है।

3. मायागता चूलिका - 20989200 पदों द्वारा इन्द्रजाल आदि के कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण का वर्णन करती है।

(54)

(4) रूपगता चूलिका - 20989200 पदों द्वारा सिंह, घोड़ा, हिरण आदि के स्वरूप के आकार रूप से परिणमन करने के कारणभूत, मंत्र, तंत्र, तपश्चरण का तथा चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म और लेनकर्म आदि के लक्षण का वर्णन करती है।

(5) आकाशगता चूलिका - 20989200 पदों द्वारा आकाश में गमन करने के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का वर्णन करती है।

इन पाँचों ही चूलिकाओं के पदों का जोड़ दस करोड़ उनचास लाख छियालीस हजार पद है।

(5) दृष्टिवाद अंग का पूर्वगत नाम का अर्थाधिकार पंचानवे करोड़ पचास लाख और पाँच पदों द्वारा उत्पाद, व्यय और धौव्य आदि का वर्णन करता है।

जो पूर्वों को प्राप्त हो अथवा जिसने पूर्वों के स्वरूप को

(55)

प्राप्त कर लिया हो उसे पूर्वगत कहते हैं। इस तरह 'पूर्वगत' यह गौण्यनाम है। वह अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वार की अपेक्षा संख्यात और अर्थ की अपेक्षा अनन्त प्रमाण है। तीनों वक्तव्यताओं में से यहाँ स्वसमय वक्तव्यता समझनी चाहिए। अर्थाधिकार के चौदह भेद हैं। वे ये हैं -  
 1. उत्पाद पूर्व, 2. आग्रायणी पूर्व, 3. वीर्यनुप्रवाद पूर्व, 4. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, 5. ज्ञानप्रवादपूर्व, 6. सत्यप्रवादपूर्व, 7. आत्मप्रवादपूर्व, 8. कर्मप्रवादपूर्व, 9. प्रत्याख्यानपूर्व, 10. विद्यानुप्रवादपूर्व, 11. कल्याणवादपूर्व, 12. प्राणावायपूर्व, 13. क्रियाविशालपूर्व, 14. लोकबिन्दुसार पूर्व।

(1) उत्पादपूर्व - उत्पाद पूर्व दस वस्तु, दो सौ प्राभृतों के एक करोड़ पदों द्वारा जीव, काल और पुद्गल द्रव्य के उत्पाद, व्यय और ध्रौद्व्य का वर्णन करता है।

(56)

(2) आग्रायणीपूर्व - अग्र अर्थात् द्वादशागों में प्रधानभूत वस्तु के अशन अर्थात् ज्ञान को आग्रायण कहते हैं। उसका कथन करना जिसका प्रयोजन हो, उसे अग्रायणीय पूर्व कहते हैं। यह पूर्व चौदह वस्तुगत, दो सौ अस्सी प्राभृतों के छियानवे लाख पदों द्वारा अंगों के अग्र अर्थात् पाणिक का कथन करता है।

(3) वीर्यनुप्रवाद पूर्व - वीर्यनुप्रवाद पूर्व आठ वस्तुगत, एक सौ आठ प्राभृतों के सत्तर लाख पदों द्वारा आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, भाववीर्य और तपवीर्य का वर्णन करता है।

(4) अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व - अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व अठारह वस्तुगत, तीन सौ साठ प्राभृतों के साठ लाख पदों द्वारा जीव और अजीव के अस्तित्व और नास्तित्व धर्म का वर्णन करता है। जैसे - जीव, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल

(57)

और स्वभाव की अपेक्षा कथंचित् अस्तिरूप है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा कथंचित् नास्तिरूप है। जिस समय वह स्वद्रव्य चतुष्टय और परद्रव्यचतुष्टय द्वारा अक्रम से युगपत् विवक्षित होता है, उस समय स्वाद्-वक्तव्य रूप है। स्वद्रव्यादिरूप प्रथम धर्म और परद्रव्यादिरूप द्वितीय धर्म में जिस समय क्रम से विवक्षित होता है, उस समय कथंचित् अस्ति नास्ति रूप है। स्यादस्तिरूप प्रथम धर्म और स्याद्-वक्तव्य रूप तृतीय धर्म से जिस समय विवक्षित होता है, उस समय कथंचित् नास्ति अवक्तव्यरूप है।

स्यान्नास्तिरूप द्वितीय धर्म और स्याद्-वक्तव्य रूप तृतीय धर्म से जिस समय क्रम से विवक्षित होता है, उस समय कथंचित् नास्ति अवक्तव्यरूप है। स्यादस्तिरूप प्रथम धर्म, स्यान्नास्तिरूप द्वितीयधर्म और स्वाद्-वक्तव्य रूप तृतीय धर्म से जिस समय क्रम से विवक्षित होता है, उस समय कथंचित्

(58)

अस्ति-नास्ति अवक्तरूप जीव है। इसी तरह अजीवादिक का भी कथन करना चाहिए।

(5) ज्ञानप्रवाद पूर्व - बारह वस्तुगत, दो सौ चालीस प्राभूतों के एक कम एक करोड़ पदों द्वारा पाँच ज्ञान, तीन अज्ञानों का वर्णन करता है तथा द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त और सादि-सान्त रूप रागादि तथा इसी तरह ज्ञान और ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करता है।

(6) सत्यप्रवाद पूर्व - बारह वस्तुगत, दो सौ चालीस प्राभूतों के एक करोड़ छह पदों द्वारा वचनगुणि, वाक्संस्कार के कारण, वचन प्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, अनेक प्रकार के वक्ता, अनेक प्रकार के असत्य वचन और दस प्रकार के सत्य वचन इन सबका वर्णन करता है। सत्य नहीं बोलने को अथवा वचन संयम अर्थात् मौन के धारण करने

(59)

कालान्तर में भगवान् बन सकते हैं। भगवान् बनने से पूर्व तक प्रायः प्रत्येक जीव अनन्त बार मनुष्य, देव, नारकी, पशु-पक्षी वृक्ष बन चुका है।

(6) सूर्य, चन्द्र, ग्रह आदि असंख्यात-असंख्यात हैं अर्थात् इनकी संख्या अनेक करोड़ों अरबों से भी अधिक है। केवल पृथ्वी पर ही जीव की मान्यता ही नहीं अपितु अन्यान्य ग्रहादिक में जीवों की मान्यता है।

(7) जैन धर्म कर्म को केवल भावात्मक संस्कार मात्र ही नहीं मानता परन्तु उसमें भौतिक-द्रव्य कर्मपरमाणुओं को भी स्वीकार करता है जो कि जिनोम सिद्धान्त से भी श्रेष्ठ है।

(8) विश्व के प्रत्येक चेतन, अचेतन द्रव्य परस्पर सहयोगी/उपकारी/प्रभावकारी होते हैं अर्थात् केवल “परस्परोग्रहो जीवानाम्” ही नहीं परन्तु “परस्परोग्रहो

(102)

द्रव्याणाम्” भी है। इसके बिना किसी भी द्रव्य की सत्ता, अवस्था, परिणमनशीलता, क्रिया, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि संभव नहीं है, तथापि प्रत्येक द्रव्य वस्तु स्वातंत्रता की अपेक्षा पृथक्-पृथक्/मौलिक है।

(9) जैन धर्म में आंशिक सत्य को नय एवं पूर्ण सत्य को प्रमाण माना है। आंशिक को आंशिक एवं पूर्ण को पूर्ण सापेक्ष दृष्टि से मानने पर सत्य मानता है, परन्तु निरपेक्ष दृष्टि से मानने पर मिथ्या/असत्य मानता है। इसको जैन धर्म के महान् सिद्धान्त अनेकान्तवाद/सापेक्षवाद या नयवाद/स्याद्वाद कहते हैं।

(10) भाव की शुद्धता के लिये सब धार्मिक व्रत-नियम, पूजा-पाठ, रीति-रिवाज, क्रिया-काण्ड हैं। यदि भाव शुद्धि के लिये व्रतादि कारण नहीं बने तो उस व्रतादि को धर्म नहीं कहा जाएगा।

(103)

को वचनगुप्ति कहते हैं। मस्तक, कण्ठ, हृदय, जिह्वामूल, दांत, नासिका, तालु और ओठ ये आठ वचन संस्कार के कारण हैं। शुभ और अशुभ लक्षणरूप वचन प्रयोग का स्वरूप सरल है। अभ्याख्यानवचन, कलहवचन, पैशून्य-वचन, असंबद्ध प्रलाप वचन, रति वचन, अरति वचन, उपधि वचन निकृति वचन, अप्रणति वचन, मोष वचन, सम्यग्दर्शन वचन और मिथ्यादर्शन वचन के भेद से भाषा बारह प्रकार की है। यह इसका कर्ता है। इस तरह अनिष्ट वचन करने को अभ्याख्यान भाषा कहते हैं। परस्पर विरोध बढ़ाने वाले वचनों को कलह वचन कहते हैं। पीछे से दोष प्रकट करने को पैशून्यवचन कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध से रहित वचनों को असंबद्ध प्रलापवचन कहते हैं। इंद्रियों के शब्दादि विषयों में राग उत्पन्न करने वाले वचनों को रति वचन कहते हैं। इनमें अरति उत्पन्न करने वाले वचनों को अरति वचन

(60)

कहते हैं। जिस वचन को सुनकर परिग्रह के अर्जन और रक्षण करने में आसक्ति उत्पन्न होती है, उसे उपधिवचन कहते हैं। जिस वचन को अवधारण करके जीव वाणिज्य में ठगने रूप प्रवृत्ति करने में समर्थ होता है, उसे निकृतिवचन कहते हैं। जिस वचन को सुनकर तप और ज्ञान से अधिक गुणवाले पुरुषों में भी जीव नप्रीभूत नहीं होता है, उसे अप्रणतिवचन कहते हैं। जिस वचन को सुनकर चौर्यकर्म में प्रवृत्ति होती है, उसे मोषवचन कहते हैं। समीचीन मार्ग का उपदेश देने वाले वचन को सम्यग्दर्शन वचन कहते हैं मिथ्या मार्ग का उपदेश देने वाले वचन को मिथ्यादर्शन वचन कहते हैं। जिनमें वक्तृपर्याय प्रकट हो गयी हैं, ऐसे द्वीन्द्रिय से आदि लेकर सभी जीव वक्ता हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा असत्य अनेक प्रकार का है।

मूल पदार्थ के नहीं रहने पर भी सचेतन और अचेतन

(61)

द्रव्य के व्यवहार के लिए जो संज्ञा की जाती है, उसे नाम सत्य कहते हैं। जैसे - ऐश्वर्यादि गुणों के न होने पर किसी का नाम इन्द्र ऐसा रखना नाम सत्य है। पदार्थ के नहीं होने पर भी रूप की सुन्दरता से जो वचन कहे जाते हैं, उसे रूप सत्य कहते हैं। जैसे - चित्रलिखित पुरुष आदि में चैतन्य और उपयोग आदि रूप अर्थ के नहीं रहने पर भी 'पुरुष' इत्यादि कहना रूप सत्य है। मूल पदार्थ के नहीं रहने पर भी कार्य के लिए जो द्यूत सम्बन्धी अक्ष (पासा) आदि में स्थापना की जाती है, उसे स्थापना सत्य कहते हैं। सादि और अनादि भावों की अपेक्षा जो वचन बोला जाता है, उसे प्रतीत्य सत्य कहते हैं। लोक में जो वचन संवृत्ति अर्थात् कल्पना के आश्रित बोले जाते हैं, उन्हें संवृत्ति सत्य कहते हैं। जैसे पृथ्वी आदि अनेक कारणों के कहने पर भी जो पङ्क अर्थात् कीचड़ में उत्पन्न होता है, उसे पङ्कज कहते हैं। धूप

के सुगन्धित चूर्ण के अनुलेपन और प्रघर्षण के समय अथवा पद्म, मकर, हंस, सर्वतोभद्र और कौञ्च आदि रूप व्यूह रचना के समय सचेतन अथवा अचेतन द्रव्यों के विभागानुसार विधिपूर्वक रचना विशेष के प्रकाशक जो वचन हैं, उन्हें संयोजना सत्य कहते हैं। आर्य और अनार्य के भेद से बत्तीस देशों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्राप्त कराने वाले वचन को, जनपद सत्य कहते हैं। ग्राम, नगर, राजा, गण, पाखण्ड, जाति और कुल आदि धर्मों के उपदेश करने वाले जो वचन हैं, उन्हें देश सत्य कहते हैं। छद्मस्थों का ज्ञान यद्यपि द्रव्य की यथार्थता का निश्चय नहीं कर सकता है तो भी अपने गुण अर्थात् धर्म के पालन करने के लिए यह प्रासुक है, यह अप्रासुक है, इत्यादि रूप से जो संयत और श्रावक के वचन हैं, उन्हें भाव सत्य कहते हैं। आगमगम्य प्रतिनियत छह प्रकार की द्रव्य और उनकी यथार्थता को

प्रकट करने वाले जो वचन हैं, उन्हें समय सत्य कहते हैं।

(7) आत्म प्रवाद पूर्व - सोलह वस्तुगत, तीन सौ बीस प्राभृतों के छब्बीस करोड़ पदों द्वारा जीव वेत्ता है, विष्णु है, भोक्ता है, बुद्ध है इत्यादि रूप से आत्मा का वर्णन करता है। कहा भी है -

जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोक्ता य पोगलो ।  
वेदो विष्णू संयंभू य सरीरी तह माणवो ॥ (81)

सत्ता जंतू य माणी य माई जोगी य संकडो ।

असंकडो य खेत्तण्हु अंतरप्पा तहेव य ॥ (82)

जीव कर्ता है, वक्ता है, प्राणी है, भोक्ता है, पुद्गल है, वेद है, विष्णु है, स्वयंभू है, शरीरी है, मानव है, सक्ता है, जन्तु है, मानी है, मायावी है, योग सहित है, संकुट है, असंकुट है, क्षेत्रज्ञ है और अन्तरात्मा है।

(64)

जीता है, जीवित रहेगा और पहले जीवित था, इसलिए जीव है। शुभ और अशुभ कार्य करता है, इसलिए कर्ता है। सत्य-असत्य और योग्य-अयोग्य वचन बोलता है, इसलिए वक्ता है। इसके प्राण पाये जाते हैं, इसलिए प्राणी है। देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी के भेद से चार प्रकार के संसार में पुण्य और पाप का भोग करता है, इसलिए भोक्ता है। छह प्रकार के संस्थान और नाना प्रकार के शरीरों द्वारा पूर्ण करता है और गलाता है, इसलिए पुद्गल है। सुख और दुःख का वेदन करता है, इसलिए वेद है अथवा जानता है, इसलिए वेदं है। प्राप्त हुए शरीर को व्याप्त करता है, इसलिए विष्णु है। स्वतः ही उत्पन्न हुआ है, इसलिए स्वयंभू है। संसार अवस्था में इसका शरीर पाया जाता है, इसलिए शरीरी है। मनु ज्ञान को कहते हैं उसमें उत्पन्न हुआ है, इसलिए मानव है। स्वजन सम्बन्धी मित्रवर्ग

(65)

में आसक्त रहता है, इसलिए सक्ता है। चार गति रूप संसार में उत्पन्न होता है और दूसरों को उत्पन्न करता है, इसलिए जन्तु है। इसके मान कषाय पायी जाती है, इसलिए मानी है। इसके माया कषाय पायी जाती है, इसलिए मायावी है। इसके तीन योग होते हैं, इसलिए योगी है। अति सूक्ष्म देह से मिलने से संकुचित होता है, इसलिए संकुट है। सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त करता है, इसलिए असंकुट है। क्षेत्र अर्थात् अपने स्वरूप को जानता है, इसलिए क्षेत्रज्ञ है। आठ कर्मों के भीतर रहता है, इसलिए अन्तरात्मा है।

(8) कर्मप्रवाद पूर्व - बीस वस्तुगत, चार सौ प्राभृतों के एक करोड़ अस्सी लाख पदों द्वारा आठ प्रकार के कर्मों का वर्णन करता है।

(9) प्रत्याख्यान पूर्व - तीस वस्तुगत, छह सौ प्राभृतों के चौरासी लाख पदों द्वारा द्रव्य, भाव आदि की अपेक्षा

(66)

परिमितकाल रूप और अपरिमितकाल रूप प्रत्याख्यान, उपवास विधि, पाँच समिति और तीन गुस्तियों का वर्णन करता है।

(10) विद्यानुवाद पूर्व - पन्द्रह वस्तुगत, तीन सौ प्राभृतों के एक करोड़ दस लाख पदों द्वारा अङ्गुष्ठ प्रसेना आदि सात सौ अल्प विद्याओं का, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का और अन्तरिक्ष, भौम, अङ्ग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यञ्जन, चिद्ध इन आठ महानिमित्तों का वर्णन करता है।

(11) कल्याणवाद पूर्व - दस वस्तुगत, दो सौ प्राभृतों के छब्बीस करोड़ पदों द्वारा सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और तारागणों के चार क्षेत्र, उपवाद स्थान, गति, चक्रगति तथा उनके फलों का, पक्षी के शब्दों का और अरिहन्त अर्थात् तीर्थङ्कर, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती आदि के गर्भावितार आदि महाकल्याणकों का वर्णन करता है।

(67)

(12) प्राणावाय पूर्व - दस वस्तुगत, दो सौ प्राभृतों के तेरह करोड़ पदों द्वारा शरीर चिकित्सा आदि अष्टाङ्ग आयुर्वेद, भूतिकर्म अर्थात् शरीर आदि की रक्षा के लिए किये गये भस्मलेपन, सूत्र बन्धनादि कर्म, जागुलिप्रकम (विषविद्या) और प्राणायाम के भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन करता है।

(13) क्रिया विशाल पूर्व - दस वस्तुगत, दो सौ प्राभृतों के नौ करोड़ पदों द्वारा लेखनकला आदि बहतर कलाओं का, स्त्री सम्बन्धी चौंसठ गुणों का, शिल्पकला का, काव्य सम्बन्धी गुण- दोष विधि का और छन्द निर्माण कला का वर्णन करता है।

(14) लोक बिन्दुसार पूर्व - दस वस्तुगत, दो सौ प्राभृतों के बारह करोड़ पचास लाख पदों द्वारा आठ प्रकार के व्यवहारों का, चार प्रकार के बीजों का, मोक्ष को ले जाने वाली क्रिया का और मोक्ष सुख का वर्णन करता है।

(68)

इन चौदह पूर्वों में सम्पूर्ण वस्तुओं का जोड़ एक सौ पिच्चानवे है और सम्पूर्ण प्राभृतों का जोड़ तीन हजार नौ सौ है।

समीक्षा - उपर्युक्त वर्णनों से परिज्ञान होता है कि अति-प्राचीन काल में आध्यात्मिक विद्या, भौतिक-विज्ञान, रासायनिक विज्ञान, अन्तरिक्ष विज्ञान, खगोल, भूगोल, इतिहास, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, सापेक्ष सिद्धान्त, भाषा विज्ञान, व्याकरण शास्त्र, तर्क शास्त्र, दर्शन शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र आदि का बहुत प्रचार प्रसार हुआ था। प्राचीन काल में आधुनिक वायुयान, राकेट से भी उन्नत यान्त्रिक यान, वाहन भी थे, इतना ही नहीं मंत्र तथा विद्या निर्मित उन्नत तीव्र गतिशील यान-वाहन भी थे। रावण का पुष्पक विमान इसका एक उदाहरण है। इसी प्रकार जल तथा स्थल में गमन करने योग्य यान-वाहन भी थे। आकाशगामी सर्वक्रतु

(69)

सुखदायी विशाल राजमहल, 81 मञ्जिल के राज प्रासाद आदि भी थे। आवश्यकतानुसार कृत्रिम वर्षा भी की जाती थी। प्राचीन काल में उन्नत चिकित्सा विज्ञान भी था। इसे प्राणवायु पूर्व कहते थे। इसको प्रकारान्तर से आयुर्वेद भी कहते हैं। आयुर्वेद शास्त्र, कथा-साहित्य, इतिहास, पुराण, संहिता साहित्य के गहन अध्ययन से ज्ञात होता है कि पहले आँख, गले आदि की भी शल्य चिकित्सा होती थी।

प्राचीनकाल में आध्यात्मिक विज्ञान, मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान की परमोत्कृष्ट उन्नति हुई थी, जिसके कारण उस काल में बिना रेडियो, टेलीविजन, रडार, टेलीफोन आदि से दूर की सूचनाएँ प्राप्त कर लेते थे और सम्प्रेषण कर लेते थे। इसका कारण उस समय के महान् आध्यात्मिक वैज्ञानिक लोग अतीन्द्रिय-ज्ञान अर्थात् अवधि ज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान सम्पन्न थे। प्राचीन काल में विभिन्न

(70)

प्रकार की शाखा-प्रशाखाएँ थीं, उसका वर्णन इसी ग्रन्थ में अन्यत्र किया गया है।

अङ्गबाह्य श्रुत के भेद- अङ्गबाह्य श्रुत के चौदह भेद हैं-

(1) सामायिक (2) चतुर्विंशस्त्व (3) वन्दना (4) प्रतिक्रमण (5) वैनियिक (6) कृतिकर्म (7) दशवैकालिक (8) उत्तराध्ययन (9) कल्पव्यवहार (10) कल्पाकल्प्य (11) महाकल्प (12) पुण्डरीक (13) महापुण्डरीक (14) निषिद्धिका ।

(1) सामायिक - द्रव्य सामायिक, क्षेत्र सामायिक, काल सामायिक और भाव सामायिक के भेद से, सामायिक चार प्रकार के हैं।

अथवा नाम सामायिक, स्थापना सामायिक, द्रव्य सामायिक, क्षेत्र सामायिक, काल सामायिक और भाव सामायिक, इन छह भेदों द्वारा समता भाव के विधान का वर्णन करना

(71)

सामायिक है। सचित्त और अचित्त द्रव्यों में राग और द्वेष का निरोध करना द्रव्य सामायिक है। ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, मंडब, पट्टन, द्रोणमुख और जनपद आदि में राग-द्वेष का निरोध करना अथवा अपने निवास स्थान में साम्पराय (कषाय) का निरोध करना क्षेत्र सामायिक है। वसन्त आदि छह ऋतु विषयक कषाय का निरोध करना, काल सामायिक है। जिसने समस्त कषायों का निरोध कर दिया है तथा मिथ्यात्व का वमन कर दिया है और जो नयों में निपुण है, ऐसे पुरुष को बाधा रहित और अस्खलित जो छह द्रव्य विषयक ज्ञान होता है, वह भाव सामायिक है अथवा तीनों ही सन्ध्याओं में या पक्ष मास के सन्धि दिनों में या अपने इच्छित समय में बाह्य और अन्तरङ्ग समस्त पदार्थों में कषाय का निरोध करना, सामायिक है। सामायिक नामक प्रकीर्णक इस प्रकार काल का आश्रय करके परिमित और अपरिमित रूप से सामायिक की प्रस्तुपणा करता है। मनुष्यों-तिर्यचों

(72)

आदि के शुभ-अशुभ नामों में राग-द्वेष का निरोध करना, नाम सामायिक है। सुन्दर अथवा असुन्दर स्थापना में राग-द्वेष का निरोध करना, स्थापना सामायिक है। जैसे कुछ मूर्तियाँ सुस्थित होती हैं, सुप्रमाण तथा सर्व अवयवों से सम्पूर्ण होती हैं, तदाकार रूप तथा मन को आह्वाद करने वाली होती हैं तो कुछ मूर्तियाँ दुःस्थित, प्रमाण रहित, सर्व अवयवों से परिपूर्णता रहित, अतदाकार भी होती हैं। (मूर्ति-निर्माता के यहाँ दोनों प्रकार की जिन मूर्तियाँ देखी जा सकती हैं)। इनमें राग-द्वेष का अभाव होना, स्थापना सामायिक है।

समीक्षा - जीवन रूपी लम्बी यात्रा में उतार-चढ़ाव, टेढ़ा-मेढ़ा, ऊँच-नीच मार्ग को पार करना पड़ता है। इन विपरीत परिस्थितियों को पार करने के लिए समता रूपी संयम की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार कि गाड़ी को लक्ष्य (स्थान) पर पहुँचने के लिए संयम रूपी ब्रेक की

(73)

आवश्यकता होती है। राग-द्वेष के कारण समता नष्ट हो जाती है, जिसके कारण हमारी यात्रा में विभिन्न बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। कर्म सिद्धान्त के अनुसार राग-द्वेष रूपी विषम भावों से पाप कर्म का बन्ध होता है जिससे दुर्गति होती है। मनोविज्ञान के अनुसार राग-द्वेष से तनाव उत्पन्न होता है, ग्रन्थियों से विषाक्त स्राव होता है। इसी से विभिन्न मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं और मानसिक रोग से शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार अधिकांश शारीरिक रोग का कारण मानसिक रोग है। तनाव से ही उच्च रक्तचाप, केंसर, हृदय रोग, सिर दर्द, शारीरिक दर्द, बदहजमी, अलसर आदि रोग होता है। इसे आयुर्वेद में प्रज्ञा अपराध कहते हैं। तनाव के कारण बौद्धिक क्षमता, स्मरण शक्ति, ग्रहण शक्ति भी घट जाती है। विवेक नष्ट हो जाता है, इसके विपरीत समता से कर्म बन्ध नहीं होता है, प्रज्ञा अपराध नहीं होता है,

(74)

शारीरिक एवं मानसिक रोग नहीं होते हैं एवं आध्यात्मिक क्षमता बढ़ती है।

**2. चतुर्विंशतिस्तव** - अर्थाधिकार उस-उस काल सम्बन्धित चौबीस तीर्थङ्करों की वन्दना करने की विधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पाँच महाकल्याणक, चौंतीस अतिशयों के स्वरूप और तीर्थङ्करों की वन्दना की सफलता का वर्णन करता है।

चौबीस तीर्थकरों के गुणों के अनुसरण द्वारा उनके 1008 नामों को ग्रहण करना अर्थात् पाठ करना, नामस्तव है। जो सद्भाव और असद्भाव रूप स्थापना में स्थापित है और जो बुद्धि के द्वारा तीर्थकरों से एकत्व अर्थात् अभेद को प्राप्त है, अतएव तीर्थकर के समस्त अनन्त गुणों को धारण करती है, ऐसी कृत्रिम तथा अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं के स्वरूप का अनुसरण करना अथवा उनका

(75)

अनुसरण करना, स्थापना स्तव है।

जिनभवन का स्तवन, जिन स्थापना स्तव अर्थात् मूर्ति में स्थापित जिन भगवान् के स्तवन में अन्तर्भूत है, अतः उसका यहाँ पृथक् प्ररूपण नहीं किया है। जो विष, शस्त्र, अग्नि, पित, वात और कफ से उत्पन्न होने वाली अशेष वेदनाओं से रहित हैं, जिन्होंने अपने प्रभा मण्डल के तेज से दर्शों दिशाओं में बारह योजन तक अन्धकार को दूर कर दिया है, जो स्वस्तिक, अङ्गुश आदि चौंसठ लक्षण चिह्नों से व्याप हैं, जिनका शुभ संस्थान अर्थात् समचतुरस्र संस्थान और शुभ संहनन अर्थात् वज्रवृषभनाराच संहनन है, सुरभि गन्ध से जिन्होंने त्रिभुवन को आमोदित कर दिया है, जो रक्तनयन, कटाक्षरूप बाणों को छोड़ना, स्वेद रज आदि विकार आदि से रहित हैं, जिनके नख और रोम योग्य प्रमाण में स्थित हैं, जो क्षीरसागर के तट के तरङ्ग युक्त जल के समान शुभ्र तथा

(76)

सुवर्ण दण्ड से युक्त चौंसठ चामरों से सुशोभित हैं तथा जिनका वर्ण (रङ्ग) शुभ है, ऐसे चौबीसों तीर्थङ्करों के स्वरूप का अनुसरण करते हुए उनका कीर्तन करना, द्रव्यस्तव है। उन चौबीसों जिनों के अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, क्षायिक सम्यक्त्व, अव्याबाध और विरागता आदि गुणों के अनुसरण करने की प्ररूपणा करना, भावस्तव है।

समीक्षा - मनुष्य एक अनुकरणशील प्राणी है। उसके सामने अनुकरणीय आदर्श होने पर आदर्श का अनुकरण करता है तथा अनादर्श होने पर अनादर्श का अनुकरण करता है। इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को आधार मानकर प्रत्येक धर्म में भगवान्, तीर्थङ्कर, पैगम्बर, बुद्ध, साधु-सन्त की पूजा, आराधना स्तुति की जाती है। जैन धर्म में भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में एक चतुर्थकाल में चौबीस धर्म प्रचारक

(77)

तीर्थङ्कर होते हैं। भले उनकी आयु, शरीर, वर्ण, वंश, जन्म-स्थान, मोक्ष-स्थान भिन्न-भिन्न क्यों न हो, परन्तु उनके आध्यात्मिक गुण एक समान होते हैं और भी कुछ बात, विशेषताएँ उनकी समान होती हैं। इन सामान्य गुण एवं विशेषताओं को केन्द्र करके उनकी पूजा, प्रार्थना करना, चतुर्विंशतिस्तवः है। इसी से भक्तों की भावना प्रशस्त होती है, श्रद्धा निर्मल होती है, पुण्य बन्ध होता है, पाप की निर्जरा होती है और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(3) वन्दना - एक तीर्थङ्कर को नमस्कार करना, वन्दना है। सामूहिक रूप से तीर्थङ्करों के गुणगान करना, स्तव है तो एक तीर्थङ्कर का गुणगान करना, वन्दना है। यहाँ वन्दना और स्तुति में कोई पक्षपात नहीं है। वन्दना के समय में भक्त में यह अभिप्राय नहीं होता है कि मैं अन्य तीर्थङ्करों की भक्ति या वन्दना नहीं करूँ परन्तु वह निर्मल भाव से एक तीर्थङ्कर

(78)

की भक्ति करने में लीन होता है। कभी-कभी भक्त एक तीर्थङ्कर की प्रतिमा में अन्य तीर्थङ्करों की स्थापना करके भी पूजा भक्ति करता है, इसमें भी भक्त की भावना पवित्र रहती है।

(4) प्रतिक्रमण - दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ईर्यापथिक और औत्तम स्थानिक, इस प्रकार प्रतिक्रमण सात प्रकार का है। सर्वातिचारिक और त्रिविधाहार त्यागिक नाम के प्रतिक्रमण, उत्तम स्थान प्रतिक्रमण में अन्तर्भूत होते हैं। 28 मूलगुणों के अतिचार विषयक समस्त प्रतिक्रमण, ईर्यापथ प्रतिक्रमण में अन्तर्भूत होते हैं। क्योंकि ईर्यापथ प्रतिक्रमण अवगत अतिचारों को विषय करता है। इस कारण प्रतिक्रमण 7 प्रकार के होते हैं।

शङ्का - प्रत्याख्यान तथा प्रतिक्रमण में क्या भेद है ?

समाधान - द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव के निमित्त से अपने शरीर (आत्मा) में लगे हुए दोषों का त्याग करना

(79)

प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान से अप्रत्याख्यान को प्राप्त होकर पुनः प्रत्याख्यान को प्राप्त होना, प्रतिक्रमण है।

अभिप्राय यह है कि मोक्ष के इच्छुक ब्रती द्वारा रत्नत्रय के विरोधी नामादिक का मन से, वचन से और काय से बुद्धिपूर्वक त्याग करना, प्रत्याख्यान है। त्याग करने (प्रत्याख्यान करने) के अनन्तर ग्रहण किये हुए ब्रतों में लगे हुए दोषों का गर्हा और निन्दापूर्वक परिमार्जन करना, प्रतिक्रमण है। यही इन दोनों में भेद है।

समीक्षा - स्व-आत्मा के शत्रुभूत प्रमाद, राग-द्वेष आदि ने जो कि जीव के ऊपर आक्रमण कर रखा है, उसको मार भगाने के लिए जो आध्यात्मिक कार्यवाही की जाती है-अति आक्रमण किया जाता है, उसे प्रतिक्रमण कहा जाता है। जिस प्रकार दैनिक विभिन्न कार्य से शरीर में धूलि आदि लग जाने से शरीर गन्दा हो जाता है और उस गन्दगी

(80)

को पानी आदि से दूर किया जाता है, उसी प्रकार राग-द्वेषादि भाव से आत्मा में कर्म रूपी धूलि लग जाती है, इससे आत्मा मलिन हो जाती है। उस मलितना को प्रतिक्रमण पश्चात्ताप/आत्म विश्लेषण/आत्म शोधन के द्वारा दूर किया जाता है। इससे आत्मा, मन तथा शरीर भी विशुद्ध, हल्का हो जाता है। आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा, मनोवैज्ञानिक चिकित्सा, न्यायिक प्रक्रिया में भी इसको बहुत महत्त्व दिया गया है। आयुर्वेद आदि के अनुसार इससे मानसिक ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, जिससे तनाव दूर होता है, इसके फलस्वरूप मानसिक तथा शारीरिक रोग दूर हो जाते हैं। न्यायिक प्रक्रिया में भी क्षमा चाहने वालों को पश्चात्ताप करने वालों को कम दण्ड दिया जाता है या पूर्ण दोषमुक्त/दण्ड मुक्त किया जाता है। इतना ही नहीं, क्षमा मांगने वालों को पश्चात्ताप करने वालों को शत्रु भी क्षमा कर देते हैं, युद्ध भी शान्त हो

(81)

जाते हैं तथा मित्रता भी हो जाती है।

(5) विनय प्रकीर्णक - विनय पाँच प्रकार का है - ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तप विनय और औपचारिक विनय, जो पुरुष गुणों में अधिक हैं, उनमें नम्रवृत्ति को रखना, विनय है। भरत, ऐरावत व विदेह में साधने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय कर ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तप विनय, उपचार विनय इन पाँचों विनयों के लक्षण, भेद और फल का कथन, विनय प्रकीर्णक में है।

समीक्षा - “विद्या ददाति विनयं” अर्थात् विद्या विनय देती है। फलदार वृक्ष के समान ज्ञानवान व्यक्ति विनम्र होते हैं। प्रकारान्तर से विचार करने पर एक रहस्य उद्घाटित होता है कि विनयवान को सच्ची विद्या की प्राप्ति होती है अथवा विनय के कारण ही सच्ची विद्या की उपलब्धि होती

(82)

है, इसलिए इस प्रकरण में ज्ञान प्राप्ति के लिये ज्ञान विनय, दर्शन प्राप्ति के लिए दर्शन विनय, चारित्र प्राप्ति के लिये चारित्र विनय, तप की प्राप्ति के लिये तप विनय तथा व्यवहार को शालीन, नम्र, समयोचित बनाने के लिए विनय का वर्णन किया गया है।

(6) कृतिकर्म प्रकीर्णक - जिनदेव, सिद्ध, आचार्य और उपाध्याय की वन्दना करते समय जो क्रिया की जाती है, वह कृतिकर्म है। उस कृतिकर्म के आत्माधीन होकर किये गये तीन बार प्रदक्षिणा, तीन अवनति, चार नमस्कार और बारह आवर्त आदि रूप लक्षण भेद तथा फल का वर्णन, कृतिकर्म प्रकीर्णक करता है।

यथाजात के सदृश क्रोध आदि विकारों से रहित होकर दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति और तीन शुद्धियों से संयुक्त कृति कर्म का प्रयोग करना चाहिए। दोनों हाथ

(83)

जोड़कर सिर से भूमि स्पर्श रूप नमस्कार करने का नाम, अवनति है। यह अवनति एक तो पञ्चनमस्कार आदि में की जाती है और दूसरी चतुर्विंशतिस्तव आदि में की जाती है। मन, वचन व काय के संयम रूप शुभ योगों के वर्तने का नाम, आवत है। पञ्चनमस्कार मन्त्रोच्चारण के आदि व अन्त में तीन-तीन इस प्रकार बारह आवर्त किये जाते हैं। अथवा चारों दिशाओं में घूमते समय प्रत्येक दिशा में एक-एक प्रणाम किया जाता है, इस प्रकार तीन बार घुमाने पर ये बारह होते हैं। दोनों हाथ जोड़कर सिर के नमाने का नाम शिरोनति है। यह क्रिया पञ्चनमस्कार और चतुर्विंशतिस्तव के आदि व अन्त में एक-एक बार करने से चार बार की जाती है। यह कृतिकर्म जन्मजात बालक के समान निर्विकार होकर मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक किया जाता है। विनय प्रकरण में जिन विनयों का वर्णन किया गया है, उन विनयों को प्रायोगिक रूप से

(84)

जिस पद्धति से किया जाता है, उस पद्धति को कृतिकर्म कहते हैं। विनय भी अयोग्य भाव से व अयोग्य पद्धति से किया जाता है तो वह विनय भी हास्यास्पद हो जायेगा। इसलिए कृतिकर्म में कहा गया है कि विनय स्वेच्छा से आत्मा की पवित्रता से प्रेरित होकर मन, वचन व काय से करना चाहिए। जिस प्रकार भाण्ड, चापलूस, दास, नौकर आदि दूसरों का विनय करते हैं, वैसा विनय नहीं होना चाहिए। इसलिये पूज्य पुरुष की भक्ति, वन्दना, स्तुति, आत्म-कल्याण के लिये निर्मल भाव से करना चाहिए।

(7) दशवैकालिक प्रकीर्णक - विशिष्ट काल विकाल है। उसमें जो विशेषता होती है, वह वैकालिक होती है। वे वैकालिक दस हैं। उन दस वैकालिक नाम का अर्थाधिकार (प्रकीर्णक) है। यह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय कर आचार विषयक विधि व भिक्षाटन विधि की प्ररूपणा

(85)

करता है। जैन साधु समस्त परिग्रहों से रहित होने के कारण निर्ग्रथ होते हैं, भिक्षु होते हैं परन्तु दरिद्र या भिखारी नहीं होते। जैन साधु धार्मिक साधना के लिए शरीर की सहायता लेते हैं, इसलिए शरीर की सुरक्षा भी करते हैं। शरीर की सुरक्षा के लिये भोजन की आवश्यकता होती है परन्तु वे दीन-हीन भिखारी के समान भोजन मांगते फिरते नहीं हैं। उनकी आहारचर्या स्वतन्त्र, आत्म गौरव पूर्ण अहिंसात्मक तथा पर अदुःखदायी होती है। ऐसा ही जो विशिष्ट काल सम्बन्धी क्रियाओं का वर्णन जिस शास्त्र में किया जाता है, उसे वैकालिक कहते हैं।

(8) उत्तराध्ययन प्रकीर्णक - जिसमें अनेक प्रकार के उत्तर पढ़ने को मिलते हैं, वह उत्तराध्ययन प्रकीर्णक है। चार प्रकार के उपसर्गों (देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यश्वकृत, अचेतनकृत) और बाईंस परीषहों (क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण,

(86)

दंशमसक, नम्रता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण स्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन, ये बाईंस परीषह हैं।) के सहन करने के विधान का और उनके सहन करने के फल का तथा इस प्रश्न के अनुसार यह उत्तर होता है, इसका वर्णन करता है।

समीक्षा - जैन साधु अद्वाईस मूलगुणों के साथ-साथ कुछ उत्तर गुण भी पालन करते हैं। इन उत्तर गुणों में से चार उपसर्ग और बाईंस परीषह भी होते हैं। उपसर्ग और परीषहों को सहन करने के लिये जो धैर्य, क्षमाभाव, स्थितप्रज्ञ, वीर्य आदि की आवश्यकता होती है, उसका वर्णन उत्तराध्ययन में किया गया है। जिस प्रकार अशुद्ध स्वर्ण पाषाण अग्नि के तपन, प्रताङ्गन, घर्षण आदि से शुद्ध होता है, उसी प्रकार अशुद्ध जीव भी उपसर्ग एवं परीषह रूपी अग्नि से तपकर

(87)

शुद्ध हो जाता है। कष्टों को समता से सहन करने से कर्म की निर्जरा होती है परन्तु कष्टों को संकलेष के रूप में सहन करने से या कष्टों से पलायनवादी बनने से कर्मास्त्रव हो जाता है जिसके कारण साधक अपने लक्ष्य से भटक जाता है।

(9) कल्प्य व्यवहार प्रकीर्णक - कल्प्य नाम योग्य का है और व्यवहार नाम उपचार का है। योग्य आचार का नाम कल्प्य व्यवहार है। साधुओं को पीछी, कमण्डलु, कवली (ज्ञानोपकरण विशेष) और पुस्तकादि जो जिस काल में योग्य हो, उसकी प्ररूपणा करता है तथा अयोग्य सेवन और योग्य सेवन न करने के प्रायश्चित्त की प्ररूपणा करता है।

समीक्षा - जैन साधु विश्व के आदर्श होते हैं। उनकी हर क्रिया योग्य एवं सन्तुलित होती है। वे अहिंसा उपकरण स्वरूप पिच्छी, शुद्धि उपकरण स्वरूप कमण्डलु तथा ज्ञान उपकरण स्वरूप शास्त्र स्वयं के पास रखते हैं। इन उपकरणों

(88)

का प्रयोग एवं संरक्षण भी समुचित विधि से करते हैं, क्योंकि इनका प्रयोग तथा संरक्षण योग्य विधि से नहीं करने से यही साधन स्वरूप उपकरण उनके लिये बाधक स्वरूप परिग्रह बन जायेंगे। जिस प्रकार पानी में तैरने वाला पानी को पार कर लेता है और नहीं तैरने वाला पानी में डूब मरता है उसी प्रकार उपकरण का योग्य विधि से प्रयोग धर्म साधन के लिए कारण बनते हैं परन्तु अयोग्य प्रयोग कर्मबन्ध के लिए कारण बनते हैं।

(10) कल्प्याकल्प्य प्रकीर्णक - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा मुनियों के लिए यह योग्य है और यह अयोग्य है, इस तरह इन सबका कथन करता है। साधुओं के लिए जो योग्य है और जो योग्य नहीं है, उन दोनों की ही द्रव्य, क्षेत्र और काल का आश्रय कर प्ररूपणा करता है। साधुओं और असाधुओं के जो व्यवहार करने योग्य हैं और

(89)

जो व्यवहार करने योग्य नहीं है, इन सबका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय कर कल्प्याकल्प्य प्रकीर्णक कथन करता है।

**समीक्षा** - घी पौष्टिक होने पर भी स्वस्थ व्यक्ति के लिए अमृत समान है तो ज्वर रोगी के लिए विष तुल्य है। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के बारे में जान लेना चाहिए। नीकी के फीकी लगे, बिन अवसर की बात, के अनुसार विपरीत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में योग्य भी अयोग्य हो जाता है। इसके अनुसार साधक अपनी हर साधना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को दृष्टिगत रखकर के करता है। प्रत्येक कार्य के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की आवश्यकता होती है। इसे महान् वैज्ञानिक आईन्स्टीन ने चतुःआयामी सिद्धान्त कहा है। जिस प्रकार चतुर्भुज क्षेत्र चार भुजाओं के समूह से बनता है, एक भी

(90)

भुजा की कमी से चतुर्भुज नहीं बनता है, उसी प्रकार हर कार्य में जान लेना चाहिए।

**(11) महाकल्प्य प्रकीर्णक** - दीक्षा ग्रहण शिक्षा, आत्म-संस्कार सल्लेखना और उत्तम स्थान रूप आराधना को प्राप्त हुए साधुओं के जो करने योग्य है, उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर प्ररूपण करता है। काल और संहनन का आश्रय कर साधुओं के योग्य द्रव्य और क्षेत्र आदि का वर्णन करता है। उत्कृष्ट संहननादि विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर प्रवृत्ति करने वाले, जिनकल्पी साधुओं के योग्य त्रिकाल योग आदि अनुष्ठान का और स्थविरकल्पी साधुओं की दीक्षा, शिक्षा, गणपोषणा, आत्म संस्कार, सल्लेखना आदि का विशेष वर्णन है। भरत, ऐरावत और विदेह तथा वहाँ के रहने वाले तिर्यच व मनुष्यों के, देवों के एवं अन्य द्रव्यों के

(91)

भी स्वरूप का छह कालों का आश्रय कर निरूपण करता है।

समीक्षा - उपर्युक्त दोनों प्रकीर्णकों में जिस विषय का वर्णन किया गया है, उसी विषय को यहाँ और भी व्यापक एवं सूक्ष्म दृष्टि से वर्णन किया गया है। इस प्रकीर्णक में दीक्षा ग्रहण से लेकर सल्लेखना तक के कर्तव्य एवं अकर्तव्यों के बारे में वर्णन किया गया है। इतना ही नहीं, साधु की शारीरिक शक्ति को ध्यान में रखकर के उनके कर्तव्यों एवं अकर्तव्यों में भी भेद किया गया है।

उपर्युक्त तीनों प्रकीर्णकों को सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि साधक को हर कर्तव्य में अत्यन्त सावधान रहना चाहिए तथा हिताहित विवेक से कार्य करना चाहिए। यही सफलता की कुञ्जी है। जितने भी महापुरुष भले वे धार्मिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनैतिक क्षेत्र में शीर्षस्थ स्थान को प्राप्त किये हैं, वे सब उपर्युक्त प्रकीर्णक

(92)

में वर्णित उपायों से ही प्राप्त किये हैं।

(12) पुण्डरीक प्रकीर्णक - भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी और वैमानिक सम्बन्धी इन्द्र और सामानिक आदि में उत्पत्ति के कारणभूत दान, पूजा, शील, तप, उपवास, सम्यक्त्व, संयम और अकाम निर्जरा का तथा उनके उपपाद स्थान और भवनों का वर्णन करता है। अथवा छह कालों से विशेषित देव, असुर और नारकियों में तिर्यच व मनुष्यों की उत्पत्ति की प्ररूपणा करता है। इस काल में तिर्यच और मनुष्य इस कल्पों व इन पृथ्वियों में उत्पन्न होते हैं। इसकी यह प्ररूपणा करता है, यह अभिप्राय है। विभिन्न गतियों एवं योनियों में स्वकर्म के अनुसार जन्म लेता है। विकसित देव गति में जन्म लेने के लिये दान, पूजा आदि उत्तम कर्तव्य की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत नरकरूपी दुर्गति में जन्म लेने के लिये हिंसा, झूठ,

(93)

चोरी आदि पाप कर्म कारण बनते हैं। मनुष्य गति में जन्म लेने के लिए पुण्य तथा पाप की मिश्रावस्था चाहिये। तिर्यच गति में जन्म लेने के लिये मायाचार की प्रधानता रहती है। आधुनिक विज्ञान में भी विभिन्न जीव के विभिन्नता के मूलभूत कारण जीन्स, D.N.A., R.N.A. को माना गया है। परन्तु ये विभिन्न जीन्स आदि कैसे कार्य करते हैं, आधुनिक वैज्ञानिकों को सूक्ष्म एवं व्यापक रूप से ज्ञात नहीं है, परन्तु प्राचीन वैज्ञानिकों ने सर्वज्ञों ने उसका मूल कारण कर्म परमाणु का शोध-बोध किया था।

(13) महापुण्डरीक प्रकीर्णक - काल का आश्रय कर देवेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव व वासुदेवों में उत्पत्ति का वर्णन करता है अथवा समस्त इन्द्र और प्रतीन्दों में उत्पत्ति के कारणरूप तपोविशेष आदि आचरण का वर्णन करता है अथवा देवों की देवियों में उत्पत्ति के कारणभूत तप, उपवास

(94)

आदि की प्ररूपणा यह प्रकीर्णक करता है।

समीक्षा - पुण्डरीक प्रकीर्णक में केवल सामान्य जीवों की उत्पत्ति के बारे में वर्णन किया जाता है तो महापुण्डरीक प्रकीर्णक में विशिष्ट देव एवं मनुष्य की उत्पत्ति के कारणों के बारे में वर्णन किया जाता है। विशिष्ट देव एवं मनुष्य आदि में जन्म लेने के लिये विशिष्ट तप, त्याग की आवश्यकता होती है क्योंकि इससे विशिष्ट पुण्य कर्म का सञ्चय होता है जिससे उच्च गति मिलती है। उपर्युक्त दोनों प्रकीर्णक से यह सिद्ध होता है कि भविष्य को उन्नत बनाने का शुभारम्भ वर्तमान भव में ही प्रारम्भ हो जाता है। जिसका वर्तमान भव आदर्श, उन्नत, सुसंस्कृत त्यागमय होता है, उसका भविष्य भी अवश्य उन्नतमय होता है।

(14) निषिद्धिका प्रकीर्णक - प्रमादजन्य दोषों के निराकरण करने को निषिद्धि कहते हैं और इस निषिद्धि

(95)

अर्थात् बहुत प्रकार के प्रायश्चित्त के प्रतिपादन करने वाले प्रकीर्णको निषिद्धिका कहते हैं अथवा काल का आश्रय कर प्रायश्चित्त विधि और अन्य आचरण विधि की प्रस्तुपणा करता है।

### श्रुतज्ञान के इकतालीस पर्यायवाची शब्द -

- (1) प्रावचन (2) प्रवचनीय (3) प्रवचनार्थ (4) गतियों में मार्गणता (5) आत्मा (6) परम्परालब्धि (7) अनुत्तर (8) प्रवचन (9) प्रवचनी (10) प्रवचनाद्वा (11) प्रवचनसन्निकर्ष (12) नय विधि (13) नयान्तर विधि (14) भङ्ग विधि (15) भङ्गविधि विशेष (16) तत्त्व (17) भूत (18) भव्य (19) भविष्यत (20) अवित्थ (21) अविहत (22) वेद (23) न्याय (24) शुद्ध (25) सम्यगदृष्टि (26) हेतुवाद (27) नयवाद (28) प्रवरवाद (29) मार्गवाद (30) श्रुतवाद (31) परवाद (32) लौकिक वाद (33)

(96)

लोकोत्तरीयवाद (34) अग्रच्य (35) मार्ग (36) यथानुमार्ग (37) पूर्व (38) यथानुपूर्व और (39) पूर्वातिपूर्व (40) आगम तथा (41) श्रुतज्ञान, ये श्रुतज्ञान के पर्याय नाम हैं।

### श्रुताभ्यास का फल -

सज्जायं कुब्वंत्तो पंचिदिय संवुड़ो तिगुत्तो य ।  
होदि य एयगगमणो विणएण समाहिदो भिक्खू ॥(21)

जह जह सुदमोगाहिद अदिसयरसपसरम सुद पुब्वं तु ।  
तह तह पल्हादिज्जदि णव-णव संवेग सद्वाए ॥ (22)  
जं अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसय सहस्स कोडीहिं ।  
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेणा ॥ (23)

स्वाध्याय को करने वाला भिक्षु पाँचों इन्द्रियों के व्यापार से रहित और तीन गुस्तियों से सहित होकर एकाग्रमन होता हुआ विनय से संयुक्त होता है, जिसमें अतिशय रस का प्रसार है

(97)

और जो अश्रुतपूर्व है, ऐसे श्रुत का वह जैसे-जैसे अवगाहन करता है, वैसे ही वैसे अतिशय नवीन धर्मश्रद्धा से संयुक्त होता हुआ परम आनन्द का अनुभव करता है। अज्ञानी जीव जिस कर्म का लाखों करोड़ों भवों के द्वारा क्षय करता है, उसका ज्ञानी जीव तीन गुणियों से गुप्त होकर अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर देता है।

श्रुतज्ञान के बिना चारित्र की उत्पत्ति नहीं होती इसलिए चारित्र की अपेक्षा श्रुत की प्रधानता है अथवा अग्रज शब्द का अर्थ मोक्ष है। उसके साहचर्य से श्रुत भी अग्रज कहलाता है। मार्ग, पथ और श्रुत ये एकार्थक नाम हैं। किसका मार्ग ? मोक्ष का। ऐसा मानने पर “सम्यगदर्शन, सम्यगज्ञान और सम्यक्चारित्र” के अविनाभावी द्वादशाङ्क को मोक्ष मार्ग रूप से स्वीकार किया है। ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग हैं। इस कथन के साथ विरोध होगा, यह भी सम्भव नहीं है

(98)

क्योंकि सम्यगदर्शन, सम्यगज्ञान, सम्यक्चारित्र के यथावस्थित जीवादि पदार्थ जिसके द्वारा ‘अनुमृग्यन्ते’ अर्थात् अन्वेषित किये जाते हैं, वह श्रुतज्ञान यथानुमार्ग कहलाता है। लोक के समाज अन्नादि होने से श्रुतपूर्व कहलाता है। यथानुपूर्वी और यथानुपरिपाटी ये एकार्थक वाची शब्द हैं। इनमें होने वाला श्रुतज्ञान और श्रुतज्ञान या द्रव्यश्रुत यथानुपूर्व कहलाता है। सब पुरुष व्यक्तियों में स्थित श्रुतज्ञान और द्रव्यश्रुत यथानुपरिपाटी से सर्व काल अवस्थित है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। बहुत पूर्व वस्तुओं में यह श्रुतज्ञान अतीव पूर्व है। इसलिये श्रुतज्ञान पूर्वातिपूर्व कहलाता है।

(99)

## जैन ग्रन्थों में वर्णित कुछ विशेषतायें

प्राचीन जैन ग्रन्थों में वर्णित विषयों का एक संक्षिप्त दिग्दर्शन ऊपर किया गया है। वैसे तो प्रस्तुत महान् ग्रन्थ कषाय पाहुड में उपर्युक्त विषयों में से कतिपय विषयों का विस्तृत वर्णन किया गया है तथापि निम्न में प्राचीन जैन ग्रन्थों (जैन धर्म) में वर्णित कुछ विशेषताओं/मौलिकताओं का दिग्दर्शन कर रहा हूँ -

(1) जैन धर्म विश्व के समस्त चेतन-अचेतन द्रव्यों को अकृत्रिम, शाश्वतिक मानता है, अतः इसके निर्माता, पालक संहारकर्ता को नहीं मानता।

(2) प्रत्येक जीव स्व-स्व कर्म के अनुसार जन्म-मरण, सुख-दुःख को भोगता है, अतः जीव को सुख-दुःखादि देने में अन्य कोई शक्ति/ईश्वर आदि की मान्यता नहीं है। ब्रह्माण्ड में अनन्तानन्त अशुद्ध संसारी जीव हैं तो अनन्तानन्त

(100)

शुद्ध मुक्त जीव हैं।

(3) प्रत्येक भव्य जीव योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के माध्यम से पुरुषार्थ करते हुए भगवान्/परमात्मा बन सकता है। परमात्मा संख्या की दृष्टि से अनन्तानन्त हैं। परमात्मा पुनः जन्म ग्रहण/अवतार ग्रहण नहीं करते हैं।

(4) जैन धर्मावलम्बी केवल मनुष्य ही नहीं हो सकते हैं, परन्तु पशु-पक्षी, देव, नारकी, भूत, प्रेत, राक्षस भी हो सकते हैं। केवल इसमें शर्त है- सत्य-निष्ठा, भाव की पवित्रता, व्यवहार में आदर्शता।

(5) स्व कर्मानुसार मनुष्य मरकर भगवान्, देव, नारकी, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि बन सकता है तो पशु मरकर देव, मनुष्य, पशु-पक्षी बन सकता है। देव मरकर देव एवं नारकी और नारकी मरकर नारकी एवं देव नहीं बन सकते हैं? पशु-पक्षी, देव, नारकी, वनस्पति, कीट-पतंग भी

(101)

कालान्तर में भगवान् बन सकते हैं। भगवान् बनने से पूर्व तक प्रायः प्रत्येक जीव अनन्त बार मनुष्य, देव, नारकी, पशु-पक्षी वृक्ष बन चुका है।

(6) सूर्य, चन्द्र, ग्रह आदि असंख्यात-असंख्यात हैं अर्थात् इनकी संख्या अनेक करोड़ों अरबों से भी अधिक है। केवल पृथ्वी पर ही जीव की मान्यता ही नहीं अपितु अन्यान्य ग्रहादिक में जीवों की मान्यता है।

(7) जैन धर्म कर्म को केवल भावात्मक संस्कार मात्र ही नहीं मानता परन्तु उसमें भौतिक-द्रव्य कर्मपरमाणुओं को भी स्वीकार करता है जो कि जिनोम सिद्धान्त से भी श्रेष्ठ है।

(8) विश्व के प्रत्येक चेतन, अचेतन द्रव्य परस्पर सहयोगी/उपकारी/प्रभावकारी होते हैं अर्थात् केवल “परस्परोग्रहो जीवानाम्” ही नहीं परन्तु “परस्परोग्रहो

(102)

द्रव्याणाम्” भी है। इसके बिना किसी भी द्रव्य की सत्ता, अवस्था, परिणमनशीलता, क्रिया, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि संभव नहीं है, तथापि प्रत्येक द्रव्य वस्तु स्वातंत्रता की अपेक्षा पृथक्-पृथक्/मौलिक है।

(9) जैन धर्म में आंशिक सत्य को नय एवं पूर्ण सत्य को प्रमाण माना है। आंशिक को आंशिक एवं पूर्ण को पूर्ण सापेक्ष दृष्टि से मानने पर सत्य मानता है, परन्तु निरपेक्ष दृष्टि से मानने पर मिथ्या/असत्य मानता है। इसको जैन धर्म के महान् सिद्धान्त अनेकान्तवाद/सापेक्षवाद या नयवाद/स्याद्वाद कहते हैं।

(10) भाव की शुद्धता के लिये सब धार्मिक व्रत-नियम, पूजा-पाठ, रीति-रिवाज, क्रिया-काण्ड हैं। यदि भाव शुद्धि के लिये व्रतादि कारण नहीं बने तो उस व्रतादि को धर्म नहीं कहा जाएगा।

(103)

(11) असत् से सत् की या चेतन से अचेतन या अचेतन से चेतन की उत्पत्ति जैन धर्म स्वीकार नहीं करता है। परन्तु प्रत्येक द्रव्य में, गुणों में परिवर्तन मानता है।

(12) जैन धर्म में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, मार्दव, सरलता, निर्लोभता, संयम, तप, त्याग, सत्-विश्वास, सच्चा-विज्ञान, सदाचार जीवरक्षा के साथ-साथ प्रत्येक वस्तु के स्वशुद्ध-स्वरूप को सार्वभौम धर्म माना है।

ऐसे और भी अनेक विशेषताओं का वर्णन प्रस्तुत प्राचीन महान् ग्रन्थ कषाय-पाहुड़ में है। इन विशेषताओं का परिज्ञान विश्व मानवों को करवाकर स्व-पर विश्व कल्याण करने की महती भावना से प्रेरित होकर ज्ञान प्रेमी - दान प्रेमी, धर्म वात्सल्य श्री नरेन्द्र कुमार जी जैन, अमेरिका के आर्थिक सहयोग से संशोधित नवीन संस्करण प्रकाशित होकर ज्ञान-

(104)

विज्ञान आध्यात्मिक रूपी प्रकाश को फैलाने के लिए प्रस्तुत है। श्री नरेन्द्र कुमार जी जैन मेरे द्वारा आशीर्वाद प्राप्त संस्थान के परम शिरोमणि संरक्षक हैं और अभी तक आपके आर्थिक सौजन्य से (1) मानव इतिहास एवं मानव विज्ञान ग्रन्थांक - 180 (पृ. सं. 400) (2) सूक्ष्म जीव विज्ञान से शुद्ध जीव विज्ञान ग्रन्थांक 181 (पृ. सं. 881) प्रकाशित होकर शोध कार्य के लिये विश्व-विद्यालयों से विश्व-स्तर तक पहुँच रही है। उनकी स्वेच्छिक हार्दिक भावना है, ऐसे महान् ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार में पूर्णतः सहयोग करता रहूँ और आशीर्वाद के साथ-साथ आदेश तथा निर्देश प्राप्त होते रहें। इस नवीन संशोधित संस्करण का उत्तरदायित्व मेरे प्रिय शिष्य महान् विद्वान्, बहु प्रतिभा के धनी, बहुभाषाविद् प्रो. प्रभात कुमार जैन ने वहन किया है। ऐसे मूर्धन्य विद्वान् के लिए Ph.d. डिग्री की कोई

(105)

आवश्यकता ही नहीं है तथापि उनके ज्ञान से मानव जगत् लाभान्वित हो ऐसी मेरी भावना के कारण उन्हें Ph.d. करने के लिये प्रेरित किया; जिसके कारण अभी वे शोधकार्य भी कर रहे हैं। Ph.d. के बाद फिर मैं उन्हें D.lit. करने के लिये प्रेरित करूँगा।

प्रस्तुत नवीन संशोधित कषाय-पाहुड़ के प्रकाशन के बाद इस ग्रन्थ के आधार पर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी तथा वाचना करने का विचार भी है क्योंकि संगोष्ठी के माध्यम से इसका अध्ययन-अध्यापन, प्रचार-प्रसार, शोध-बोध, प्रायोगिककरण के माध्यम से स्व-पर विश्वकल्याण हो ऐसी मेरी भावना है। इस ग्रन्थ के अर्थ सौजन्यकर्ता - ज्ञानदानी श्री नरेन्द्र कुमार जैन सपरिवार, संशोधन सम्पादन कर्ता प्रो. प्रभात कुमार जैन तथा सहभागिनी सौ. वीणा जैन को मेरा मंगलमय शुभाशीर्वाद के साथ-

(106)

साथ शुभकामनायें हैं कि वे ऐसा ही और भी उत्तमोत्तम कार्य करते हुए स्व-पर विश्वकल्याण करने में महान् योगदान देते रहे जब तक कि इसके फलस्वरूप स्वात्मोपलब्धि स्वरूप मोक्ष की अध्ययन-अध्यापन, प्रचार-प्रसार-प्रायोगिककर से उपलब्धि न हो जाये। ऐसा ही अखिल जीव जगत् के लिये शुभाशीर्वाद के साथ शुभकामनायें हैं। इस ग्रन्थ के स्व-पर कल्याण करते हुए मेरा परम लक्ष्य स्वरूप सत्य साम्य सुखमय स्वयं की उपलब्धि करूँ, ऐसी मंगलमय भावनाओं के साथ -

जिनवाणी के आराधक  
आचार्य कनकनंदी

(107)

## जैन धर्म के कुछ वैश्विक सूत्र-

समस्त द्रव्यों के रहने का स्थान - लोकाकाश

लोकाकाशेऽवगाहः। (12) मोक्षशास्त्र अ. 5

इन धर्मादिक द्रव्यों का अवगाह लोकाकाश में है॥

आकाश एक सर्वव्यापी अखण्ड द्रव्य होते हुए भी जिस आकाश प्रदेश में जीव आदि रहते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं। उसको छोड़कर अन्य अवशेष आकाश को अलोकाकाश कहते हैं।

धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार व लक्षण

गतिस्थित्युपगृहौ धर्माधर्मयारूपकारः। (17)

गति और स्थिति में निमित्त होना यह क्रम से धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार है।

इस विश्व में जीव एवं पुद्गल गति-शक्ति युक्त हैं अर्थात् ये दोनों ही द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान को गमन करते हैं। इन दोनों की गति सहित स्थिति भी होती है। गति सहित स्थिति करने के लिए दोनों समर्थ होते हुए भी गति-स्थिति के लिए बाह्य निमित्त की आवश्यकता पड़ती है। गति के लिए धर्म द्रव्य उदासीन कारण है एवं स्थिति के लिए अधर्म द्रव्य उदासीन कारण है।

(108)

आकाश का उपकार या लक्षण

आकाशस्यावगाहः। (18) (मोक्षशास्त्र)

अवकाश देना आकाश का उपकार है।

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य एवं काल द्रव्य को अवकाश देने वाला आकाश द्रव्य है। आकाश सबसे विशालतम् द्रव्य है एवं सर्वव्यापी के साथ-साथ अवगाहनत्व शक्तियुक्त होने के कारण आकाश द्रव्य अन्य द्रव्यों को अवकाश देता है।

पुद्गल द्रव्य का उपकार

शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम्। (19)

शरीर, वचन, मन और प्राणापान यह पुद्गलों का उपकार है। इस सूत्र में संसारी जीवों के लिए पुद्गल का क्या-क्या उपकार है उसका वर्णन किया गया है। संसारी जीवों के पांचों शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास पुद्गल से बनते हैं अर्थात् शरीर आदि पुद्गल स्वरूप हैं।

सुखदुःखजीवित मरणोपगृहाश्च। (20)

सुख, दुख, जीवन और मरण ये भी पुद्गलों के उपकार हैं।

19 नम्बर सूत्र में बताया गया कि, परिमाण विशेष से गृहीत पुद्गल जैसे-शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास चतुष्टय क्रम

(109)

से गमन, व्यवहरण, चिन्तवन और श्वासोच्छ्वास रूप से जीव का उपकार करते हैं वैसे सुख आदि भी पुद्गलकृत उपकार है उसको बताने के लिए इस सूत्र में कहते हैं कि सुख, दुःख, जीवन, मरण भी पुद्गल कृत उपकार है।

### जीवों का उपकार

परस्परोपग्रहो जीवानाम् (21)

परस्पर सहायता में निमित्त होना यह जीवों का उपकार है।

स्वामिसेवक आदि कर्म से वृत्ति (व्यापार) को परस्परोपग्रह कहते हैं। स्वामी, नौकर, आचार्य (गुरु) शिष्य आदि भाव से जो वृत्ति होती है, उसको परस्पर उपग्रह कहते हैं। ऐसा ही सर्व जीवों में होता है।

### काल का उपकार

वर्तना परिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य। (22)

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल के उपकार हैं।

विश्व में जड़-चेतन में मूर्तिक-अमूर्तिक में जो सूक्ष्म-स्थूल, शुद्ध-अशुद्ध परिणमन (परिवर्तन) होता है वह परिणमन दो कारण से होता है- (1) उपादान कारण (2) निमित्त कारण। उपादान

(110)

कारण को मुख्य कारण (स्व कारण) एवं निमित्त कारण को गौण कारण (बाह्य कारण) कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य में परिणमन शक्ति (अगुरुलघुत्व गुण) होती है जो कि परिणमन के लिए मुख्य कारण है। इस मुख्य कारण को सहायता पहुँचाने वाला गौण कारण है। इसी प्रकार द्रव्य परिणमन में स्वयोग्यता मुख्य कारण और कालद्रव्य गौण कारण है। इसलिये इस सूत्र में वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व काल द्रव्य के उपकार कहा हैं।

### पुद्गल द्रव्य का लक्षण

स्पर्श रस गन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः (23)

स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण वाले पुद्गल होते हैं।

### द्रव्य का लक्षण

सदद्रव्य लक्षणम्। (29)

द्रव्य का लक्षण सत् है-

यह विश्व शाश्वतिक है। क्योंकि इस विश्व में स्थित समस्त द्रव्य भी शाश्वतिक है।

### सत् का लक्षण-

उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्। (30)

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त अर्थात्

(111)

इन तीनों रूप है वह सत् है।

वस्तु स्वरूप की सिद्धि-सापेक्ष सिद्धान्त  
अर्पितानर्पितसिद्धेः। (32)

मुख्यता और गौणता की अपेक्षा एक वस्तु में विरोधी  
मालूम पड़ने वाले दो धर्मों की सिद्धि होती है।

द्रव्य का लक्षण

गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। (38)

गुण और पर्याय वाला द्रव्य है।

द्रव्य, गुण और पर्यायों का एक अखण्ड पिण्डस्वरूप है।

काल भी द्रव्य है-

कालश्च। (39)

काल भी द्रव्य है।

जिस प्रकार जीव धर्म, अधर्म एवं आकाश द्रव्य हैं, उसी  
प्रकार काल भी द्रव्य है।

द्रव्यदाता :- (१००० प्रतियाँ)

पिताश्री स्व. नेमीचन्द जी जौहरी तथा

मातुश्री स्व. शान्तिदेवी की पुण्यस्मृति में (अमेरिका)

(112)



32 वाँ धर्म दर्शन विज्ञान प्रशिक्षण शिविर के  
शिविरार्थी एवं आचार्य कनकनंदी गुरुदेव संसंघ  
दामगढ़ - 2009

